भूमिका

प्रथम मानव की सृष्टि से लेकर नगर सभ्यता के प्रथम आविर्भाव के काल का इतिहास मानव समाज का बुनियादी इतिहास है। इस प्रागैतिहासिक मानव को समझे बिना मनुष्य के आधुनिक इतिहास की सही व्याख्या सम्भव नहीं है। प्रागैतिहासिक मानव संस्कृति का विकास धीरे-धीरे लाखों वर्ष तक कैसे हुआ यही इस पुस्तक का विषय है।

जिसे हम असभ्य या बर्बर युग कहते हैं, उस युग की छाप हमारे रीति-रिवाजों में मौजूद है और हमारी सुसंस्कृत कलाओं में भी आदिम कला और संस्कृति के बीज मौजूद हैं। समाज संगठन की शक्ति मानव रक्त में ही वर्तमान है परन्तु प्रारम्भिक समाज का विकास होता आया है और इस विकास का इतिहास जैसा रोचक है वैसा ही शिक्षाप्रद भी है। मानव-विज्ञान का प्रारम्भ हुआ विभिन्न आदिम मानव समूहों के अद्भुत रिवाजों और सामाजिक संस्थाओं के विवरण के द्वारा परन्तु इस विज्ञान की आज की विकसित अवस्था में ही हम विभिन्न रिवाजों और अनुष्ठानों की अन्तर्निहित एकता को देख पाते हैं। आदिम समाज संगठन के मौलिक सिद्धान्तों का अवलोकन इस रचना में किया गया है।

उत्पादन प्रथा और समाज संगठन का एक घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध ने आर्थिक संगठन को रूप दिया है और इस आर्थिक संगठन ने सामाजिक अनुष्ठानों को प्रभावित किया है। विवाहादि संस्कारों का भी आर्थिक संगठन से सम्बन्ध है परन्तु दूसरी ओर वैवाहिक रीति-रिवाजों ने आर्थिक संगठन को भी प्रभावित किया है। प्रचलित धारणा के विपरीत दार्शनिक विचार सभ्य समाज की ही उपज नहीं हैं। दार्शनिक विचारधारा आदिम समाज में भी प्रवाहित थी यद्यपि दार्शनिकों की संख्या अधिक न थी जैसा कि आज के समाज में भी नहीं है। आदिम

मानव समाज में धर्म, न्याय, शासन, राजनीति आदि के रूपों का विकास किस प्रकार हुआ यह भी एक दिलचस्प इतिहास है। इस इतिहास की रूपरेखा का दिग्दर्शन इस पुस्तक में कराया गया है। अतएव पुस्तक आदिम मानव समाज और संस्कृति का एक संक्षिप्त परन्तु सुसम्वद्ध इतिहास हो गई है।

उपसंहार के रूप में आदिम कला और कुछ आदिम जातियों की विशेपताओं के सम्वन्ध में दो अध्याय जोड़े गये हैं। आज के आदिम समाज के अध्ययन से, विशेपकर उनमें प्रचलित लोक कथाओं के द्वारा उनके आदिम पुरखों के सम्वन्व में हमें वहुत कुछ जानकारी मिल जाती है। कहीं-कहीं तो आधुनिक सभ्यता के सम्पर्क में आकर इन समाजों का आदिम रूप वदल चुका है परन्तु कई देशों और स्थानों में उनका रूप प्राय: अपरिवर्तित ही है। परिवर्तन न होने का कारण यह है कि वाद में आने वालों ने उन्हें या तो दुर्गम स्थानों में ढकेल दिया या फिर वे ऐसी जगह जा वसे जहाँ दूसरों के लिए वसना लाभकर नहीं था। उनमें यदि कोई परिवर्तन हुआ है तो यह कि यदि उनके पुरखों ने किसी दिशा में विशेष प्रगति की हो तो ये उन प्रगतिशील वातों को भूल या छोड़ चुके हैं।

संस्कृति के विकास के सम्वन्ध में भी एक वात ध्यान में रखना आवश्यक है कि कभी-कभी एक भूखण्ड की संस्कृति दूसरे भूखण्ड में फैल गई थी और भिन्न-भिन्न विकासधाराएँ मिलकर एक ही संस्कृति की नदी में प्रवाहित हो गई थीं।

—लेखक

सूची

विषय प्रवेश

प्रागितिहास के विना इतिहास अधूरा रह जाता है। परन्तु पृथ्वी पर मनुष्य के आविर्भाव के प्राचीनतम काल का कोई लिपिवद्ध इतिहास नहीं है। लाख, दस लाख वर्ष पहले की घटनाओं और मानव-प्रगति की जानकारी प्राप्त करने के लिए हमें पुरातत्व विज्ञान और भूगर्भ शास्त्र का आश्रय लेना पड़ता है। जमीन के नीचे खुदाई के द्वारा जो कब्रें, मकान, कंकाल और औजर आदि मिले हैं वे प्राचीन और आधुनिक काल के वीच की कड़ियाँ हैं। इसीलिए पुरातत्व विज्ञान ने पिछले सौ वर्षों में प्रभूत उन्नति की है। हैनरी लेआर्ड ने सन् १८४६ में निमरूद (मोसल के दक्षिण-पूर्वी स्तूप) की खुदाई से जव असीरिया के राजाओं के दो मुख्य महलों का पता लगाया, उस समय भी पुरातत्व पूर्ण वैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित नहीं हुआ था। उन्होंने जो मूर्तियाँ और कलाकृतियाँ प्राप्त कीं वे आज ब्रिटिश संग्रहालय में रखी हुई हैं। परन्तु आज मूर्तियाँ, खुदाई के स्थानों से हटाई नहीं जातीं, वे यथास्थान रख दी जाती हैं। जिस स्थान पर लेआर्ड ने खुदाई की थी उसी स्थान पर सन् १६४६ में ब्रिटिश स्कूल आव आर्कियोलाजी ने फिर से खुदाई की और इससे न केवल शाही महलों को वह रूप दिया गया जैसे कि वे असीरिया के राजाओं के समय दिखाई देते थे, वल्कि सारे शहर की स्थिति का भी ज्ञान हो जाता है।

चीन में पुरातात्विक अन्वेषण की एक दिलचस्प कहानी है। चीन के होनान प्रदेश में, सन् १८६० के लगभग सिआव टुन नामक स्थान के किसानों को अपने खेतों में कुछ अद्भुत किस्म की हड्डियाँ मिलीं। इन हड्डियों पर अण्डाकृति खरोच और 'T' की शकल के दरारों के अलावा कुछ ज्यामिति के चिह्न और क्षुद्र चित्र भी खुदे हुए थे। ली नाम के एक किसान ने यह निश्चय किया कि हो न हो ये ड्रागन की हड्डियां हैं जो उस समय चीन की देशी दवाओं में वहुत शक्तिशाली मानी जाती थीं; यह चीन में आधुनिक चिकित्सा प्रणाली के प्रवर्तन से पहले की वात है। ली ने हड्डियां रासायनिकों के हाथों में रखीं। रासायनिकों ने हड्डियों का चूर वनाकर उसे स्नायविक रोगों के अनमोल उपचार के रूप में वेचा। किसी रासायनिक की दुकान में, सन् १८९९ में पुरातत्व विशारद एक चीनी ने लक्ष्य किया कि समूची हड्डियों में वने हुए ज्यामिति के चिह्न किसी लिपि के अक्षरों के अनुरूप हैं। पुरातत्वविदों ने ये हड्डियाँ खरीदनी शुरू कर दीं। प्रायः तीस वर्ष वाद हड्डियों पर की गई खुदाइयों की ठीक-ठीक व्याख्या की जा सकी।

इन हड्डियों के द्वारा पुराने जमाने में भविष्यवाणी की जाती थी। जिस प्रश्न का उत्तर माँगा जाता था, पुरोहित हड्डी पर उसकी खुदाई करते थे। पुरोहित जवाव के लिए, हड्डियों पर कुछ खरोच देते थे और फिर उन्हें गरम करते थे। गरमी से हड्डियों पर जिस दिशा में दरार पड़ते थे उसी से प्रश्न का उत्तर 'हाँ' या 'ना' में समझा जाता था। यह

भी जानकारी की गई कि ये हड्डियाँ महलों में रखी हुई थीं और उन पर खुदे हुए प्रश्न राजाओं के प्रश्न थे। ये प्रश्न राजनीति या युद्ध के अथवा होने वाली फसल आदि के संबंध में होते थे। फिर यह मालूम हुआ कि ये राजा शांग वंश के थे जो चीन के इस भाग में ईसा पूर्व १७६५ और ११२३ के बीच राज्य करते थे। अंतिम बात यह मालूम की गई कि जिस जगह हड्डियाँ मिली थीं वह थी शान राजाओं की राजधानी आन्यांग (परवर्तीकाल का 'लिन')। इस प्रकार चीनी सभ्यता के प्रारंभिक काल की तिथि काफी पीछे चली गयी।

पुरातत्व-अन्वेषण का तात्कालिक उद्देश्य मनुष्य के अतीत का पता लगाना है परन्तु इसका अन्तिम उद्देश्य सभ्यताओं के उत्थान, विकास और पतन की प्रक्रियाओं को सुबोध बनाना है। इतिहास का भी यही अन्तिम उद्देश्य है लेकिन इतिहासकार एक स्वल्प अवधि की सीमा में ही काम करता है जब कि मानव-वैज्ञानिक हजारों वर्ष के दायरे में मानव-प्रवृत्तियों की खोज करता है। मानव विज्ञान के लिए सभ्यता का पैमाना विस्तृत और विशाल है।

मानव-विज्ञान का एक भौतिक पक्ष है और एक सांस्कृतिक पक्ष। भौतिक पक्ष का संबंध मानवजाति की उत्पत्ति तथा शरीर-संगठन की विशेषताओं और परिवर्तनों आदि से है। मनुष्य ने क्या किया यह सांस्कृतिक पक्ष का विषय है। प्रस्तुत पुस्तक में इसी विषय की चर्चा की गई है। साहित्यिक नहीं बल्कि व्यापक अर्थ में संस्कृति वह है जो मनुष्य करता है।

साथ ही संस्कृति एक मानसिक उपज है। प्रायः प्रत्येक जन-जाति की अपनी-अपनी सांस्कृतिक विशिष्टताएं हैं यद्यपि एक वड़े क्षेत्र में कई जनजातियों में अनुरूप विशिष्टताएँ भी मिलती हैं। यह जरूरी नहीं कि प्रत्येक जनजाति अपनी संस्कृति का आविष्कार स्वयं करे। संस्कृति का प्रसार भी एक जनजाति से दूसरी को हुआ करता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कोई जाति किसी अन्य संस्कृति को पूरे तौर पर अपनी ही संस्कृति वना लेती है।

सांस्कृतिक मानव-विज्ञान की तीन मुख्य शाखाएँ हैं। एक है भाषा संवंधी ज्ञान। आदिम जातियों के भाषा-वैचित्र्य से अनेक तथ्यों की जानकारी मिल सकती है। उनकी भाषाओं का विश्लेषण और वर्गीकरण पहला कदम मात्र है। वास्तव में उनकी सहायता से हम व्यक्तिगत और सामूहिक मनोविज्ञान के गहरे स्तरों को समझ सकते हैं। जो धारणाएँ भाषाई रूप के अभिन्न अंग हैं वे व्यक्ति की विचार प्रणाली पर एक सूक्ष्म प्रभाव डालती हैं। पुरातत्व विज्ञान इसकी एक और शाखा है जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। तीसरी शाखा नृतत्व-शास्त्र का संवंध सभी जीवित संस्कृतियों के भिन्न-भिन्न रूपों से है। नृतत्व-शास्त्री का काम मौजूदा संस्कृतियों के तुलनात्मक अध्ययन से ऐसा निष्कर्ष निकालना है जिसे व्यापक रूप से संस्कृति मात्र के लिए लागू किया जा सके। नृतत्वशास्त्री का अन्तिम उद्देश्य वही है जो समाजशास्त्री, या अर्थशास्त्री या अंशतः इतिहासकार का भी है। ये चारों यह समझने की कोशिश करते हैं कि समाज और संस्कृतियाँ किस प्रकार काम
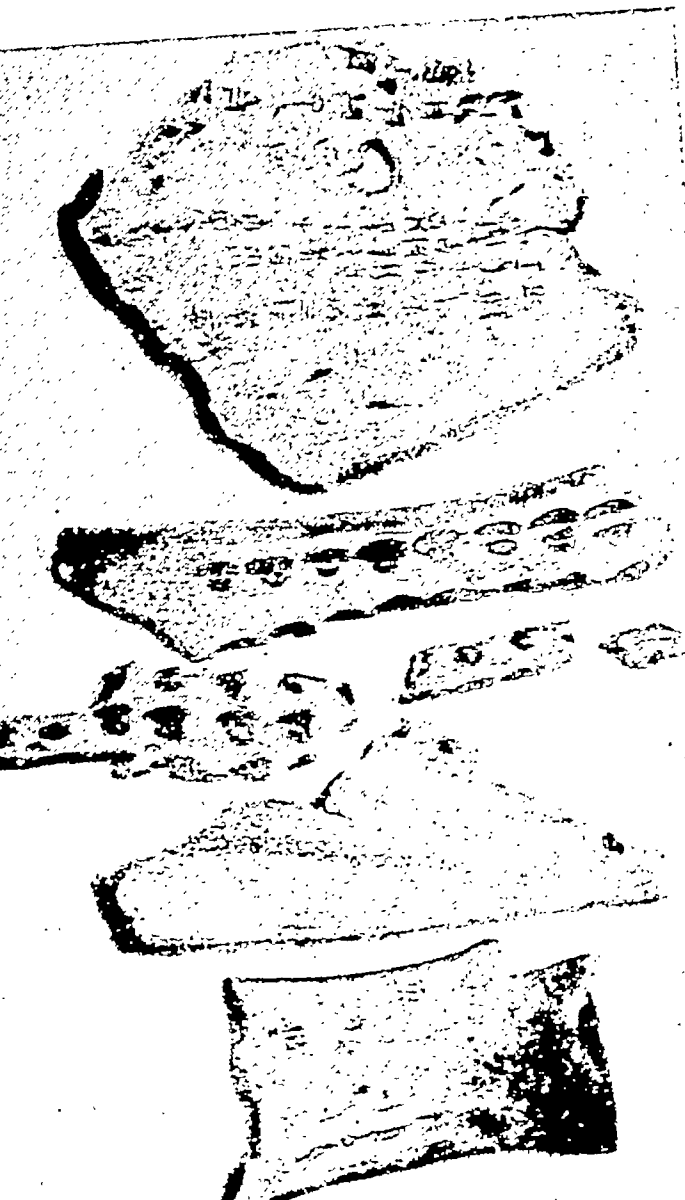
भविष्यवाणी करने वाली अान्यांग की हड्डियां

करती हैं और उनमें परिवर्तन किस प्रकार के और क्यों होते हैं। इन नियमों को जानने के लिए हमें उन मौलिक सिद्धान्तों को पकड़ना पड़ता है जो सभी समाजों और संस्कृतियों के आधारस्वरूप हैं।

विज्ञान का यह साधारण नियम है कि जहाँ संभव हो खोज सरल से जटिल की ओर की जाती है। नृतत्वशास्त्री आदिम संस्कृतियों की खोज में संलग्न रहकर ठीक इसी नियम का पालन करता है। उसका विश्वास है कि सरल समाजों के अध्ययन से जो निष्कर्ष निकलते हैं उनसे जटिल समाजों को समझने में सहायता मिलती है। अब नयी खोज व्यक्तित्व और संस्कृति के परस्पर संबंध के बारे में की जा रही है। वर्तमान काल में प्रायोगिक विज्ञान के क्षेत्र में भी मानव विज्ञान का इस्तेमाल हो रहा है। उदाहरण स्वरूप जनजातियों के नियंत्रण के लिए मानव-विज्ञान विशेषज्ञों को नियुक्त किया जाता है। विभिन्न जातियों के परस्पर संबंध और औद्योगिक संबंधों के अध्ययन के लिए भी उन्हें नियुक्त किया जा रहा है। मानव-शास्त्री इस विषय में भी महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त कर रहे हैं कि विभिन्न जातियों में रोग की प्रतिरोध शक्ति कितनी है। आज यह एक निर्धारित तथ्य है कि पश्चिमी अफ्रीका के नीग्रो जटिल मलेरिया रोग को अच्छी तरह बरदाश्त कर लेते हैं जब कि अन्य जातियाँ वहाँ टिक नहीं सकतीं। साथ ही ये नीग्रों मलेरिया के वाहक भी हैं। यदि उन्हें अन्यत्र ले जाया जाय तो वे मलेरिया फैलाये बिना नहीं रह सकते।

आदिम समाज की उत्पत्ति, उत्कर्ष और वर्तमान स्थिति

का अध्ययन न केवल दिलचस्प है वल्कि इससे मनुष्य को अपने संबंध में जानकारी प्राप्त होती है इसलिए यह अध्ययन अति महत्वपूर्ण भी है। परन्तु मानव विज्ञान की खोज अभी अपूर्ण है और अमीमांसित समस्याओं के कारण इसमें मतभेद भी काफी है। उदाहरण के लिए अमेरिका में प्रथम मानव कव पहुँचा, इस सम्बन्ध में किसी का उत्तर है ३ हजार वर्ष पहले तो कोई कहता है तीस या सत्तर हजार वर्ष पहले। किसी का कहना है कि अमेरिका में जो लोग एशिया से पहले पहल गये वे एक विकसित संस्कृति को भी अपने साथ ले गये और अन्यों का कहना है कि वहाँ संस्कृति का विकास स्वतन्त्र रूप से हुआ। मतभेद का एक कारण यह है कि मानव, स्वभावतः ज्ञान को प्रणालीवद्ध करने की चेष्टा करता है और कोई वात उस प्रणाली के वाहर दिखाई पड़े तो उसे वह स्वीकार नहीं करना चाहता। मिसाल के तौर पर मानव विकासक्रम में चेलियन (आविवेलियन) से अशूलियन, अशूलियन से मुस्तेरियन (नीयनदर्थत्य), मुस्तेरियन से आरिगनेशियन और (क्रोमैग्नन) आरिगनोशियन से सोल्युट्रियन संस्कृति का सम्वन्ध जोड़ा जाता है। यह सिलसिला यूरोप के लिए तो ठीक है लेकिन सारे विश्व पर यह लागू है यह सन्देह जनक है। इसी प्रकार एक समस्या यह है कि प्रथम मानव कहां पैदा हुआ? यूरोप में, दक्षिण पश्चिम एशिया में या चीन में या अफ्रीका में। सम्भव है खोज की नई विधियों से इन समस्याओं का भी समाधान हो जाये और मतभेद का दायरा भी काफी घट जाय।

प्रथम मानव

प्रथम मानव पर से परदा उठ जाता है हिमयुग के प्रारम्भ में आज से कोई दस लाख वर्ष पहले। लेकिन वह मानव आज जैसा मनुष्य नहीं था। उसकी खोपड़ी छोटी, ठुड्डी वड़ी और चौड़ी थी और वानर जगत से अभी अभी निकलने के चिह्न उसमें मौजूद थे। दक्षिण अफ्रीका के नरानुरूप वानर (ऑस्ट्रालोपिथिसीनी) के अस्थि अवशेपों से यह पता लगाया गया है। इससे पता चलता है कि विकास क्रम ने दक्षिण अफ्रीका में दस लाख वर्ष पहले एक ऐसे प्राणी की सृष्टि की जो वानर और नर की सीमा रेखा पर अवस्थित थी। नर और वानर का प्रधान प्रभेद यह है कि नर औजारों का इस्तेमाल कर सकता है। वानर औजारों का इस्तेमाल कर ही नहीं सकता, ऐसी वात नहीं है। छड़ी, लकड़ी का इस्तेमाल वानर भी कर सकते हैं परन्तु मनुष्य औजारों का इस्तेमाल वरावर करता रहता है और औजारों को सुन्दर वनाने की भी वह चेष्टा करता है।

औजार इस्तेमाल करने की प्रवृत्ति मनुष्य में कैसे पैदा हुई यह कहना कठिन है, लेकिन सीवे खड़े होकर चलने से इसका कुछ सम्वन्ध है। सीवे खड़े रहने पर हाथ खुल जाते हैं। हाथों से तरह तरह का काम करना सम्भव होता है। मनुष्य के हाथों की वनावट भी ऐसी है कि वृद्धांगुष्ठ को वाकी अंगुलियों के मुकावले रखा जा सकता है जिससे किसी चीज़ को पकड़ने

में आसानी होती है।

वानर से विभिन्न मानव के विकास का एक और कारण उसका शक्तिशाली मस्तिष्क है। इसका विकास कैसे हुआ, यह भी निश्चित रूप से कहना कठिन है। लेकिन यह अनुमान असंगत न होगा कि औजारों के वनाने के साथ उसका मस्तिष्क और शीघ्र विकसित हुआ।

जावा में 'पिथिकैन्थ्रोपस इरेक्टस' की खोज से पता चलता है कि मानव जाति का विकास 'ऑस्ट्रालोशिथिसिनों' से और आगे वढ़ चला है परन्तु आधुनिक मानव का पूर्वज हमें चीन में पाइपिंग के पास प्राप्त अस्थि अवशेषों में मिलता है जिसे 'सिनेन्थ्रोपस' का नाम दिया गया है। यूरोप में स्वानस्कुम्व में मस्तक का जो कंकाल मिला है, वह ढाई लाख वर्ष पहले का वताया जाता है। उसे निश्चित रूप से मनुष्य कंकाल कहा जा सकता है। फ्रांस में फान्ट शेव्हाड में जो कंकाल प्राप्त हुआ है उसकी उम्र सवा लाख वर्ष की है। इसके वाद नीआनडर्थल मानव की उत्पत्ति हुई। समय के साथ नीआनडर्थल मानव का भी लोप हो गया। आज से २५ हजार वर्ष पूर्व आधुनिक मानव जाति का ही विस्तार होने लगा और अन्य प्रकार की सभी मानव जातियों का लोप हो गया।

प्रारम्भिक समाज

मानव प्रकृति के लिए मनुष्य शरीर और मानव मस्तिष्क के अतिरिक्त सामाजिकता भी आवश्यक है, पुरातात्विक अव-शेषों में यह चिह्न नहीं मिलते कि आदिम मानव के सामाजिक संगठन का प्रारम्भिक रूप क्या था। इस खोज के लिए हमें वानरों और नरानुरूप वानरों के जगत् में प्रवेश करना पड़ता है। उच्च स्तर के पशुओं और मनुष्यों की महत्वपूर्ण आव-श्यकताएँ प्राय: एक जैसी ही हैं। खाने-पीने और श्वास-प्रश्वास की प्रक्रियाएँ तो एक समान हैं ही, सन्तान पालन की रीतियाँ भी दोनों में प्राय: अनुरूप हैं। वच्चों के लालन-पालन, खाद्य सामग्री एकत्र करने, अपने को वचाने, इत्यादि प्रकार के कामों के लिए वहुतेरे पशु विशिष्ट दल वनाते हैं। वन्दर इस प्रकार का जीवन विताने में अविक कुशल होते हैं। प्रकृति से मेलजोल रखने वाले पशु जगत के विकास क्रम में इन सामाजिक प्रवृत्तियों का महत्वपूर्ण भाग रहा है।

प्रोफेसर जुकरमान ने लन्दन, पेरिस और मूनिक के चिड़ियाघरों में वैवून जातीय वानरों के कार्यकलाप का सूक्ष्म अध्ययन किया है। इन वैवून वस्तियों में वन्दरों को इच्छा-नुरूप पारिवारिक व्यवस्था करने की आजादी थी। ये वन्दर विशालकाय और शक्तिशाली थे—नर, मादों से कहीं वड़े थे। जुकरमैन ने देखा कि नर अपनी विशाल आकृति का पूरा फायदा उठाते हैं और मादों पर पूर्ण प्रभुत्व करते हैं। नरों में भी आकार

और भीषणता का व्यवधान है और उनमें संघर्ष होता है। लेकिन लड़ाई इस हद तक नहीं होती कि खून से लथपथ एक ही नर वन्दर जीता रहे और वाकी सव खत्म हो जायें। यह लड़ाई मुर्गों जैसी लड़ाई है। हर एक गुण्डा है लेकिन वह देख कर ही पहचान लेता है कि कोई दूसरा उससे वड़ा गुण्डा है। वस वह चुपचाप हार मान लेता है; एक प्रभु वन जाता है और दूसरा अधीन। इस प्रकार सारे दल में प्रभुता के ओहदे वन जाते हैं और युद्ध विराम की स्थिति कायम हो जाती है।

यह प्रभुता, दल के संगठन और नर मादाओं में सम्वन्ध का आधार वन जाती है। वलशाली नर वैवून सारी मादी वैवूनों को हथिया लेते हैं। किसी को एक ही पत्नी मिलती है तो कुछ को छोटा-मोटा हरम प्राप्त हो जाता है। दल में वड़े छोटे का अन्दाज उसके अधिकार क्षेत्र के दायरे से मिल जाता है। वैवून अपनी पत्नियों पर पूरा नियन्त्रण रखता है। मादा को नर के चन्द फीट के अन्दर ही रहना पड़ता है और नर भर पेट खाता रहता है और मादा को चुपचाप अपनी जगह वैठा रहना पड़ता है। नर मादा पर तो नजर रखता ही है, साथ ही किसी और नर को उनसे दूर रखने के लिए भी चौकसी रखता है। इसी प्रकार अन्य नर वैवून भी अपने काम में व्यस्त रहते हैं। दल के निचले स्तर के कमजोर वैवूनों को विपत्नीक रहना पड़ता है। लेकिन ये किसी न किसी हरम में वतौर दोस्त के जुड़ जाते हैं। वे मादाओं पर नजर न डालें तो उनसे कोई छेड़खानी नहीं करता।

किसी की मृत्यु होने पर दल की स्थिति डाँवाडोल हो जाती है। मादा की मृत्यु हो तो विधुर वैबून दूसरों के हरम से अपनी क्षति पूर्ति की चेष्टा करता है और नर मर जाता है तो उसकी बेवाओं के लिए भीषण संग्राम छिड़ जाता है।

दल में सन्त्रासवाद का वातावरण होते हुए भी इसका रूप एक सुगठित समाज का है। सन्त्रासवाद की भी इस समाज में उपयोगिता है। मुख्य उपयोगिता यह है कि प्रभुत्व के प्रभाव के कारण दल जिन्दा रहता है और बच्चों के लालन-पालन आदि कार्यों में दलगत सुविधाओं का लाभ उठाना सम्भव है। साथ ही दल में लड़ने की वह ताकत होती है जो प्राकृतिक जीवन में दल के बचाव के लिए आवश्यक है। परन्तु यह भी दल के सामाजिक जीवन का सम्पूर्ण चित्र नहीं है। जुकरमान ने लक्ष्य किया कि कोई भी वैबून बिना उद्देश्य के इधर उधर घूमता नहीं है। चलते फिरते भी उसका अन्य वैबूनों से एक निर्दिष्ट सम्बन्ध होता है। शिशु वैबून माता से और माता शिशु से चिपकी रहती है। मादा नर के आस-पास घूमती रहती है और नर हर समय मादा पर नजर रखता है। नर, नर पर भी प्रभुत्व के स्तर के अनुसार नजर रखता है। इन सभी सम्बन्धों के साथ, किसी वैबून के अपने व्यक्तित्व और उसकी तात्कालिक आवश्यकताओं के पेचीदे जोड़ पर ही किसी विशेष मुहूर्त में उसका कार्य निर्भर रहता है। वैबून दल पशु जगत का एक सूर्य मण्डल जैसा है।

आस्ट्रेलिया की आदिम जातियों में भी इसी प्रकार के जटिल सम्बन्ध पाये जाते हैं यद्यपि वे बन्दर की भाँति दाँत से

काटने को नहीं दौड़ते और स्त्री पुरुष या उम्र सम्वन्धी अनेक रीति रिवाज और नियमों से बँधे रहते हैं।

प्राध्यापक श्री कार्पेन्टर ने पनामा नहर के पास गर्जनकारी वन्दरों का अध्ययन किया है। ये वैबून जैसे खूँखार नहीं होते परन्तु उनकी गरज इतनी डरावनी है कि अभ्यस्त लोग भी सुनकर डर जाते हैं। इस दल में सहयोग ही जीवन का नियम है। जंगलों में उनका अपना क्षेत्र होता है। उस क्षेत्र में अन्य पशु भले ही रहें लेकिन गर्जनकारी वन्दरों के किसी और दल को उसमें प्रवेश का अधिकार नहीं दिया जाता। कोई दूसरा दल वहाँ आता है तो वे भीषण गर्जन करते रहते हैं और धीरे-धीरे दूसरा दल हट जाता है। अपने क्षेत्र में पेड़ों की शाखाओं पर वे खेलते, खाते और सोते हैं। एक पेड़ से दूसरे पेड़ को वे उसी स्थान से होकर जाते हैं जहाँ दोनों की डालें मिलती हैं। इन वन्दरों के लिए भी सव समय यह आसान काम नहीं होता। कहाँ से डाल पार की जाय इस विषय में जव सन्देह होता है तो थोड़े से वयस्क वन्दर इधर उधर फैल जाते हैं। इस कार्य में कोई प्रतियोगिता की भावना नहीं होती। किसी नेता को उपयुक्त मार्ग मिल जाय तो वह एक विचित्र आवाज करता है और वाकी वन्दर उसी के पीछे हो लेते हैं। फिर सारा गिरोह करीव-करीव एक कतार में यात्रा शुरू करता है। मादाएँ वच्चों को पीठ पर चढ़ा लेती हैं या किसी प्रकार उनकी देखभाल करती हैं। चलते चलते कोई वच्चा वन्दर नीचे गिर पड़े तो उसी स्थान पर नर बन्दर इकट्ठे होकर तेंदुआ आदि को भगाने के लिए विकट चीत्कार करते हैं। परन्तु वच्चे को नीचे से

उठाने का काम मादाओं का ही है।

गर्जनकारी वन्दरों में मादाओं की संख्या नरों से अधिक होती है लेकिन वैवून की तरह यह नर कोई हरम नहीं रखता। यौन क्रिया के लिए नर मादाओं के वीच घूमते फिरते हैं। कोई पिता नहीं हैं, सभी 'चाचा' हैं। यौन वृत्ति से प्रतियोगिता की भावना नहीं फैलती और न प्रभुत्व ही पैदा होता है।

सवेरे सभी एक पेड़ से दूसरे और दूसरे से तीसरे पर जाकर भर पेट फल, फूल, पत्ती और कलियाँ खाते हैं और दोपहर को वयस्क वन्दर डालों पर आराम करने की जगह ढूंढ लेते हैं। मादाएँ वच्चों के साथ हो लेती हैं और कभी-कभी उन्हें सिखाती हैं कि क्या खाना चाहिए और कैसे। कोई नया वच्चा पैदा हुआ हो तो सभी मादाएँ उसे घेर कर वैठ जाती हैं। कम से कम तीन वर्ष तक वच्चों की देखभाल की जाती है। दल के वड़े वच्चे खूव खेलते हैं और एक दूसरे को दौड़ाते रहते हैं। खेल में किसी को चोट लगे और कोई चीख पड़े तो वड़े वन्दर घुड़क देते हैं और सव शान्त हो जाते हैं। घुड़की का कारण नाराजगी नहीं वल्कि दल को नियन्त्रण में रखना है।

गर्जनकारी वन्दरों में क्रोध और आक्रमणकारी वृत्ति अन्य दलों के मुकावले अधिक प्रकाश में आती है लेकिन दल के अन्दर ये भावनाएँ वचपन से ही प्रशिक्षण के कारण दवी रहती हैं। इस प्रकार गर्जनकारी वन्दर-दल की सामाजिकता का रूप स्पष्ट है। वैवून और गर्जनकारी वन्दर के सामाजिक संगठन के रूप भिन्न हैं परन्तु दोनों अपने अपने स्थान पर कार्य करते हैं।

एक और प्रकार के वन्दर गिवन का परिवार एकपत्नीक है। लेकिन यह मानव समाज का एक पत्नी परिवार नहीं है। नर हो या मादा, एक ही लिंग के दो वयस्क गिवन एक दूसरे के प्रवल प्रतिद्वन्दी होते हैं। मर्द मर्द को भगा देते हैं और औरत औरत को भगा देती है। इस प्रकार अन्त तक एक नर का सम्वन्ध एक ही मादा से वना रहता है। लक्ष्य करने की वात यह है कि इन दोनों का सम्वन्ध यौन सम्वन्ध से अधिक है। दोनों में प्यार की भावना भी होती है। व्यक्तिगत गिवनों में प्रतिद्विन्दिता की भावना भले ही हो परन्तु दल एकता-सूत्र में आवद्ध होता है। साथ ही प्रभुत्व भी कुछ मात्रा में वर्तमान है जो दल को नियन्त्रित रखता है। आकार और प्रभुत्व में नर और मादा प्रायः समान होने के कारण गिवन समाज का रूप वैवून समाज के रूप से कुछ भिन्न है।

पश्चिम अफ्रीका के जंगलों में स्वतन्त्र रूप से विचरण करते हुए शिम्पांजियों का अध्ययन डाक्टर निसेन ने किया है। उनके अध्ययन के अनुसार शिम्पांजी आठ या नौ के दल में घूमते फिरते हैं। इसमें वड़े छोटे दोनों शामिल हैं। उनके यौन-सम्वन्ध में कोई विशेषता नजर नहीं आती यद्यपि मादाओं की अपेक्षा नरों की संख्या कम होती है और हो सकता है कि किसी दल में एक ही वयस्क नर हो। उनमें शान्तिपूर्ण सहयोग की मात्रा अधिक है। डाक्टर निसेन को विभिन्न दलों में भी प्रतियोगिता या घृणा की भावना दिखाई नहीं दी वल्कि उन्हें यह अनुभव हुआ कि दो दल सामयिक रूप से मिल जाते हैं और फिर अलग हो जाते हैं। दल के

अन्दर किसी के प्रभुत्व के चिह्न उन्हें दिखाई नहीं दिये। उनकी धारणा यह हुई कि दल के सदस्यों में स्वतन्त्रता की स्फूर्ति है और गतिविधि में लचीलापन है। वे स्वेच्छा से विचरण करते रहते हैं और आवाज के जरिये परस्पर सम्पर्क में रहते हैं।

वन्दी अवस्था में भी शिम्पांजियों का अध्ययन किया गया है। यद्यपि उनकी यह प्राकृतिक अवस्था नहीं है परन्तु उनके आचरण में परस्पर निर्भरता मनुष्यों जैसी जान पड़ती है। शिम्पांजी दल के संगठन में सदस्यों का एक निर्दिष्ट सम्बन्ध होता है जिसके द्वारा दल की क्रियाएँ नियन्त्रित होती हैं। मृदु स्वभाव और आत्मविश्वास उनके प्राकृतिक गुण हैं और विशेष वन्धुत्व तथा सविशेष शत्रुता की भावनाओं के संयोग से वे वहुत कुछ मानवीय गुण सम्पन्न हैं।

गुरिल्ला का अध्ययन और भी कठिन है, इसलिए उनके सम्बन्ध में जानकारी भी थोड़ी ही प्राप्त हो सकी है। लेकिन इतना पता चला है कि वे दलवद्ध रहते हैं और यह दल कभी कभी वड़ा भी होता है। प्रतीत यह होता है कि एक दूसरे के प्रति वे विरुद्ध भावापन्न नहीं होते और वयस्क नर शान्ति और सहयोग से जीवन विताते हैं। मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि उनका आचरण शिम्पांजी और मनुष्य जैसा ही होता है।

वन्दर और नरानुरूप वानरों के इस अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इन पशुओं को दलवद्ध रूप में रहने की आवश्यकता मालूम पड़ती है। इनमें दल गठन

करने की क्षमता भी काफी है। एक का दूसरे से क्या सम्बन्ध होना चाहिए, यह भी वे सीख लेते हैं। इस प्रकार दल के अन्दर पृथक् व्यक्तित्व परस्पर गुँथे हुए रहते हैं। जिस दल में प्रभुत्व है वह और भी सुसंगठित होता है। संक्षेप में यह दल एक सम्मिलित समाज है, पशुओं का एक झुण्ड मात्र नहीं है। यह समाज विकसित मस्तिष्क और बुद्धि की उपज है जिनके द्वारा समाज में विभिन्न सदस्यों का जटिल समन्वय सम्भव है। वन्दरों और गिवन के समाज में कुछ जड़ता है परन्तु शिम्पांजी, गुरिल्ला आदि के समाजों में लचीलापन है जो मानव समाज की ओर इंगित करता है। नरानुरूप वानरों की भाँति ही मनुष्य सामाजिक जीव है और मानव प्रकृति से ही समाज की स्थापना हुई है।
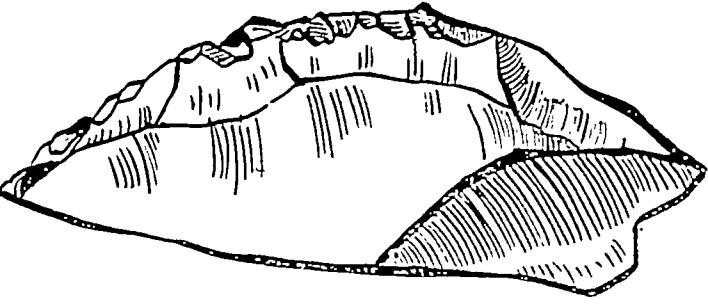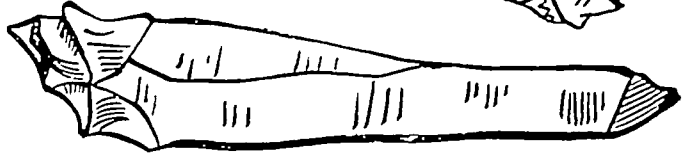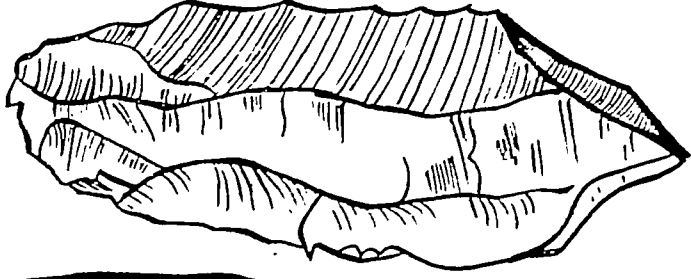
उत्तर प्राचीन पाषाण युग के शल्कल यंत्र—१ छुरा, २ खुरचन यंत्र, ३ नक्काशी यंत्र, बीच में आन्तरक कोर से शल्कल पृथक किया गया दिखाया गया है।

प्राचीन पाषाण-युग

प्रथम हिमयुग (गुंज ग्लेसिएशन) से लेकर अन्तिम हिमयुग (उर्मग्लेसिएशन) तक का काल प्राचीन पाषाण युग कहा जाता है। इसके पहले के काल को ऊष: पाषाण युग कहा जाता है जबकि आदिम मानव उन्हीं औजारों का इस्तेमाल करता था जो उसे प्राकृतिक रूप में मिलते थे। औजारों को मानवोपयोगी बनाने का काम प्राचीन पाषाणयुग में ही आरम्भ हुआ। प्राचीन पाषाण युग को तीन भागों में बाँटा जाता है—अति प्राचीन, मध्य प्राचीन और अन्तिम प्राचीन। पत्थर के विभिन्न औजारों से ही यह वर्गीकरण किया गया है। अन्तिम प्राचीन काल पाषाण-युग का अत्यल्प भाग मात्र है—केवल दो फीसदी। प्राचीन पाषाण युग का मानव अधिकांश खुली जगहों में ही रहता था। पानी के पास और उन जानवरों के निकट जिनका वह शिकार करता था, उसका निवास स्थान था।

प्राचीन पाषाणयुग के पत्थर के औजारों के अवसाद (डिपाजिट) उत्तरी फ्रांस की सोम घाटी और इंगलैंड के दक्षिण में थेम्स नदी के किनारे मिलते हैं। मुख्यत: दो किस्म के औजार यहाँ मिलते हैं—मोटे छोर वाली कुल्हाड़ी और फ्लेक्स अर्थात् पत्थर के छिलके। पत्थर की जो पतली पत्तियाँ मिलती हैं वे वास्तव में विशेष रूप से बनाये गये छिलके ही हैं। औजारों की विभिन्नता या उनके बनाने के तरीकों की विभिन्नता के कारण आवेब्हिये, क्लैक्टन, सेंश्राश्योल आदि स्थानों की

संस्कृतियों को पृथक किया गया है परन्तु इन संस्कृतियों में कोई विकासक्रम नहीं है। परवर्ती काल में पैरिस के निकट लवालोम्रा नामक स्थान में औजारों का कुछ विकसित रूप मिलता है। लवालोम्रा में प्राप्त छिलकों को गोल, अण्डाकार या त्रिकोण वनाने के उद्देश्य से मोटे छोर वाले आन्तरक पत्थरों को विशेष रूप से वनाया गया है। ठोंकने पीटने से ये पत्थर प्रायः कूर्माकार वन जाते हैं, इसलिए इन्हें कूर्माकार आन्तरक भी कहा जाता है।

मध्य पाषाण युग में ल मुस्तिये (दक्षिण-पश्चिम फ्रांस) की संस्कृति पैदा हुई। इस युग में लोग गुहाओं और पहाड़ों के आश्रयों में रहने लगे थे। आग का प्रयोग और दफनाने की प्रथा भी इस युग में मिलती है। मुस्तिए संस्कृति के प्रथम काल में दिल की शक्ल वाली छोटी कुल्हाड़ियाँ और खुर्चन यन्त्र मिलते हैं। इसके वाद के काल में कुल्हाड़ियाँ कम और छिलके वाले औजार अधिक मिलते हैं। मुस्तिए संस्कृति में ही हड्डी के औजार पहले-पहल मिलते हैं।

पाषाण युग का अन्तिम काल पूरे युग का पचासवाँ भाग मात्र है, लेकिन इसी अवधि में प्रागैतिहासिक मानव ने सवसे अधिक साँस्कृतिक प्रगति की। पत्थर की पत्तियों से विशेष कामों के लिए उपयोगी औजार वनने लगे और इन औजारों ने कुल्हाड़ी और छिलकन का स्थान लिया। हड्डी, हाथी दाँत और हरिण की सींग के औजार भी वनाये जाने लगे थे। मध्य यूरोप, दक्षिण रूस और साइवीरिया में इस युग के मनुष्यों के सवसे प्रथस निवास स्थान मिलते हैं। ये मकान मिट्टी के नीचे गढ़े में अण्डाकार या लम्वे वने हुए हैं। प्राचीन युग की कला

स्कारा ब्रे मे पाषाणयुग की बस्ती का एक साजसहित मकान—बीच में पत्थरों से घिरा हुआ चूल्हा है। इसके दोनों ओर दो गहरे बक्सनुमा बिस्तर हैं। पीछे दोहरे खानों वाला ताक है उसकी बगल में खाद्य और जलसंचय के लिए पत्थरों से चुना हुआ गढ़ा है।

का प्रारम्भ भी इसी युग में होता है। उपज बढ़ाने वाले जादू, निजी सम्पत्ति और सामाजिक विभाग के भी चिह्न मिलते हैं। तब प्रारम्भिक आदिम जातियों का लोप हो चुका था और आधुनिक मानव जाति ने उनका स्थान ले लिया था। इसी युग में पेरीगार्डियन, ओरिगनेशियन, सोल्युट्रियन और मैगडैलैनियन संस्कृतियों का उदय हुआ।

प्राचीन पाषाण युग के एशिया में भिन्न प्रकार के दो मुख्य सांस्कृतिक प्रदेश हैं। उत्तर भारत, चीन, वर्मा, मलाया और जावा जैसे दक्षिणी और पूर्वी प्रान्त में कुल्हाड़ी मुख्य औजार हैं। पश्चिमी प्रान्त में, जिसमें पैलेस्टाइन, तुर्की, सीरिया, पश्चिम भारत, मेसोपोटामिया आदि शामिल हैं, प्राचीन पाषाण युग का विकास यूरोप की भाँति ही हुआ है। यहाँ कुल्हाड़ी और लवालोआ किस्म के पत्थर के पतले टुकड़े मिलते हैं। पाषाण युग में भारत और पाकिस्तान, पश्चिमी एशिया और दक्षिणी तथा पूर्वी एशिया के बीच के सीमान्त देश रहे हैं। पंजाव (पाकिस्तान तथा भारत) में दोनों संस्कृतियों का सम्मेलन हुआ है।

अन्तर्वर्ती पाषाण-युग

प्राचीन और नवीन पाषाणयुग के बीच के काल को अन्त-वर्ती या मेसोलिथिक काल कहते हैं। ईसा पूर्व ८३०० वर्ष से ईसा पूर्व २५०० वर्ष तक इसकी अवधि है। इस अन्तर्वर्ती संस्कृति का बुनियादी आर्थिक ढांचा वही है जो प्राचीन पाषाण युग के अन्तिम काल का है परन्तु हिमयुग के वाद हिम खण्डों के पीछे हट जाने के कारण वातावरण में परिवर्तन के परि-णामस्वरूप इस काल के आर्थिक ढांचे में कुछ महत्वपूर्ण परि-वर्तन हुए हैं। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता है कि अन्तर्वर्ती या मेसोलिथिक संस्कृति का ही विकसित रूप नवीन पाषाणयुग की संस्कृति है। नव पाषाण-युग की कृषि सभ्यता पूर्णतः भिन्न संस्कृति है।

पश्चिमी यूरोप की मेसोलिथिक संस्कृति के मुख्य औजार हैं ज्यामिति की रेखाओं के अनुसार वनाये गये पत्थरों के वहुत छोटे टुकड़े जिन्हें सूक्ष्म पाषाण खण्ड कहा जाता है। स्पेन, दक्षिण इटाली और उत्तर-पश्चिमी अफ्रीका में इस संस्कृति के अवशेष पाये गये हैं। यह संस्कृति जव पश्चिम यूरोप में पहुँची उसी समय प्राचीन पाषाणयुग का अन्त और मेसोलिथिक युग का प्रारम्भ समझा जा सकता है। इस युग की प्रथम सभ्यता एजिलियन और परवर्ती सभ्यता टारडीनोआसियन सभ्यता है। दक्षिणी फ्रांस के मासदाजिल से एजिलियन और फ़ेर-आं-तार-देनोआ से टारडीनोआसियन नाम पड़ा है।

एजिलियन संस्कृति की मुख्य विशेषता है हरिण की सींग के औजार जिनका ऊपरी हिस्सा चपटा और तला छिदा हुआ है (हारपून) ; दूसरी विशेषता है छोटे-छोटे रंगे हुए पत्थर के घिसे टुकड़े। पत्थर के इन छोटे टुकड़ों का उद्देश्य समझ में नहीं आता। छिदे दांत और ऐसे ही अन्य अलंकार भी मिलते हैं। टारडीनोआसीयन संस्कृति खुली जगहों और साधारण तौर पर रेतीली जमीन पर पायी जाती है। यह संस्कृति वास्तव में पाषाण-चूर्ण संस्कृति है। पत्थर के सूक्ष्म टुकड़े छिदी हथेली पर चढ़ाये हुए हैं। ये टुकड़े ज्यामिति की रेखाओं के अनुसार बनाये गये हैं। मेसोलिथिक युग के बाद नव पाषाण युग आरम्भ हुआ है।

आदिम समाज का जन्म

आदिम समाज के वास्तविक परिचय के लिए उसके जन्म-काल का इतिहास जानना भी जरूरी है। यह इतिहास स्पष्ट नहीं है, प्रामाण्य भी साधारण अर्थ में नहीं है, परन्तु तथ्य-विहीन नहीं है। इस तथ्य का रूप भी इतिहास के साधारण तथ्यों के रूप से भिन्न है। इन सीमाओं के अन्दर ही हमें प्रागितिहास का अनुसरण करना पड़ता है। आदि मानव का जन्म स्वयं रहस्यमय है, परन्तु उस रहस्य के उद्‌घाटन की चेष्टा से ही प्रागितिहास की एक रूपरेखा का निर्माण सम्भव हो सका है। एक समय प्रायः एक लाख वर्ष तक, हमारी इस पृथ्वी का एक बड़ा हिस्सा वर्फ से ढका पड़ा था। पृथ्वी के इतिहास के उस काल को हिमयुग कहा जाता है। हिमयुग के भी दसियों हजार वर्ष पहले, सम्भवतः लाख दो लाख या कई लाख वर्ष पहले भी पृथ्वी पर मनुष्य के किस्म के जीव थे। उन्हें मनुष्य-पूर्व प्राणी या वानर-नर भी कहा जाता है। जिन्हें मनुष्य का नाम दिया जाता उनका आविर्भाव हिमयुग के बाद ही हुआ। इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि नरानुरूप वानरों की अपेक्षा वानरानुरूप नरों का विकास ही मानव-के रूप में हुआ। ऐसा जान पड़ता है कि हिमयुग के अन्तिम काल में प्रथम मानव-जाति का उदय हुआ। पश्चिमी यूरोप के मार्न जिले में इसका निवास स्थान था। इस जाति को नीयनडर्थल मानव कहा जाता है। डूसेलडर्फ की नीयन्डर घाटी

से, जहाँ इस जाति के मानव के अवशेषों का पहले-पहल पता लगा गया, इस जाति का नाम पड़ा है। नीयनडर्थल मानव देखने में जानवरों की तरह ही रहा होगा। उसका कद छोटा था (१·५५ से १·५८ मीटर तक), वह ठोस, वजनदार था और अत्यधिक केशयुक्त तथा लोमश था। वह घुटना या पीठ विलकुल सीधा नहीं रख सकता था, उसका जवड़ा वहुत वड़ा था और ठुड्डी नहीं के वरावर थी; उसकी नाक चौड़ी तथा चपटी थी। लेकिन उसके मस्तिष्क का आयतन पर्याप्त था, कोई १४०० घन-सेन्टीमीटर (वर्तमान गोरिल्ला के मस्तिष्क का आयतन कुल ५०० घन-सेन्टीमीटर, आदि आस्ट्रेलियन का १३४० घन-सेन्टीमीटर और आधुनिक योरोपीयन का १५५० घन-सेन्टीमीटर है)। और वही मानव सभ्यता का प्रथम स्रष्टा था।

अपने प्रयोजन के लिए पत्थरों का इस्तेमाल शायद वानरानुरूप नर भी करता था, लेकिन एकउ द्देश्य को सामने रखकर पत्थर का औजार वनाना नीयनडर्थल मानव का ही काम था। इससे उसकी इच्छा-शक्ति और वुद्धि शक्ति दोनों जाहिर होती हैं। उसकी दूसरी वहुत वड़ी सफलता थी आग के भय पर कावू पाना। आग देख कर सभी जानवर भयभीत होते हैं। लेकिन अव मनुष्य ने जंगली जानवरों के विरुद्ध वचाव के लिए, रात को शिकार करने के लिए और अपने शरीर को ताप पहुँचाने के लिए आग का इस्तेमाल करना सीखा। आग को जलाये रखने का भी काम उसने शुरू किया। वानरानुरूप नर जानवरों में से ही था। नीयनडर्थल मानव में ही अपनी शक्ति

के सम्बन्ध में एक चेतना पैदा हुई । अभी तक जानवरों में वह निम्न श्रेणी का था । शेर, भालू, गेंडा, भैंस और घोड़े उससे कहीं अधिक ताकतवर और तेज भी थे । लेकिन वह अब उनसे अपने को कहीं अधिक श्रेष्ठ समझने लगा क्योंकि उसमें बुद्धि थी । जिस आग से वे डरते थे उसका वह मालिक था । पत्थरों पर वह काम कर सकता था जहाँ अन्य जानवरों की पहुँच भी नहीं है । अपने वल को महसूस कर उसने वड़े-वड़े जानवरों के साथ, प्रभुत्व के लिए, एक संघर्ष छेड़ दिया । वानरानुरूप नर भी, जो एक समय उसके समान ही था, अव उसके लिए अन्य जानवरों की भाँति ही अवज्ञा का पात्र वन गया । वानरानुरूप नर शाकाहारी था लेकिन डंडे-पत्थर या एक प्रकार की पत्थर का मुष्टि-छुरा लेकर ही नीयनडर्थल मानव शिकारी वना था। पत्थरों के औज़ार उसने पहले अच्छी किस्म के वनाये, फिर विभिन्न उद्देश्यों के लिए विभिन्न प्रकार के औजार उसने वनाये । नीयनडर्थल संस्कृति का प्रचलित नाम 'मुस्तेरियन' है ।

सर्वप्रथम मानव सभ्यता का केन्द्र उत्तरी फ्राँस तथा वेल्जियम था, सम्भवतः इसलिए कि पत्थर के टुकड़े वहाँ काफी मिलते थे । यह विकास क्रम कितनी सदियों तक कायम रहा यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता । इसी वीच समशीतोष्ण काल की समाप्ति हुई और नये तथा अन्तिम हिमयुग का प्रारंभ हुआ । इस वार मनुष्य शीत के भय से पीछे नहीं हटा । वह आग का मालिक था, कुशल शिकारी था और शाकाहार न मिले तो माँस भी वह प्राप्त कर सकता था, अतः उसने जल-वायु के परिवर्तन का ही मुकावला नहीं किया वल्कि शीत के

कारण ही उसने अपनी सभ्यता को और आगे बढ़ाया। पहले गुहा कन्दर उसके लिए जाल की भाँति थे, जहाँ शेर या भालू उसे अकस्मात अपना शिकार बना सकते थे। अब उसने जंगली जानवरों को अपनी मांदों से भगा कर उन पर अपना कब्ज़ा जमाया। शिकार से वह खाद्य संग्रह करता था; साथ ही जानवरों की खाल को भी वह अपने काम में लाने लगा। वर्तमान मानव सभ्यता का अंकुर भी उसी समय जमने लगा। अब मनुष्य नीयनडर्थल मानव से बहुत आगे बढ़ चुका था। नीयनडर्थल मानव ने वानरारूप नर पर जो श्रेष्ठता प्राप्त की थी वही श्रेष्ठता नवमानव ने नीयनडर्थल मानव पर प्राप्त कर ली। यह दो जातियों के सम्मिश्रण का फल था। नीयनडर्थल जाति जब मार्न जिले से दक्षिण फ्रांस को फैली तो उसे एक और जाति आरिगनेशियन मिली। आरिगनेशियन मानव का कद नीयनडर्थल मानव से कुछ ही ऊँचा (१·६ मीटर) था और उसके मस्तिष्क का आयतन भी कुछ ही बड़ा था (१४०० घन-सेन्टीमीटर), लेकिन देखने में वह जानवर जैसा नहीं लगता था। उसका माथा ऊँचा और चौड़ा था, उसके जबड़े खोपड़ी पर लगाम जैसे नहीं जान पड़ते थे, उसके बाजू लम्बे थे और उसका नीचे का हिस्सा छोटा था। दोनों जातियाँ घुल-मिल गयीं। एक ही कन्दर में दोनों की कब्रे मिलती हैं। इन दोनों जातियों के सम्मिश्रण के फलस्वरूप ही सभ्यता की और प्रगति हुई।

इन दोनों जातियों के सम्मिश्रण से जो नयी जाति पैदा हुई उसे क्रो-मैगनन जाति कहते हैं (क्रो-मैगनन में उसके अव-

शेष प्राप्त होने के कारण उसका यह नाम पड़ा)। क्रो-मैगनन मानव ऊँचे कद का था, कुछ क्षेत्रों में २ मीटर लम्बा। उसके अंग-प्रत्यंग सुविकसित थे और उसके मस्तिष्क का आयतन १५०० घन-सेन्टीमीटर था। इस जाति के विकास के साथ कन्दराओं में चित्रकारी करने वाले आये और धार्मिक भावनाओं के प्रारम्भिक वीज डालने वाले भी आये। उन्हें आज की सभ्य जातियों का पुरखा कहा जा सकता है। पत्थर के औजारों को उन्होंने और भी विकसित किया और तेज धार वाली पत्थरों की छुरियाँ भी वनायीं। उन्होंने सींग और हड्डियों का भी इस्तेमाल करना सीखा और पत्थर के औजारों में ये भी जोड़े जाने लगे। नुकीली हड्डियों की सुई वनाकर उन्होंने वालदार चमड़ों का वस्त्र सीना भी सीखा। पुरुषों का मुख्य पेशा आखेट था और इसी सिलसिले में कला का प्रयोग होने लगा और उससे धार्मिक भावनाओं की उत्पत्ति हुई। शिकार करने के साथ-साथ मनुष्य सोचने लगा और उसने लक्ष्य किया कि हकुआ कभी-कभी व्यर्थ हो जाया करता है, भाला-वल्लम का निशाना चूक जाता है और जहाँ जाड़ा अधिक पड़ता है, जानवर वहाँ से दूर हट जाते हैं। वह उपाय सोचने लगा कि शिकार के लिए जानवर हर समय काफी संख्या में मिल सकें और शिकार पर निशाना भी चूकने न पाये। बुद्धि के सहारे मनुष्य काफी कठिनाइयाँ पार कर चुका था और इस उपाय की खोज में भी उसने बुद्धि का प्रयोग किया। एक दिन किसी को यह सूझा कि जानवरों का चित्र खींच कर उन्हें प्रभावित किया जाय ताकि प्रजनन से वे अपनी संख्या वढ़ायें, जाड़ों में अपनी

जगह वे कायम रहें या गरमियों में उन जगहों पर लौट आयें और इस प्रकार मनुष्य का शिकार सुरक्षित हो। चित्र बनाना पहले एक खेल रहा होगा लेकिन यह कल्पना-शक्ति, इच्छा-शक्ति और स्मृति-शक्ति को उत्तेजित करता है, क्योंकि मूल वस्तु और उसकी प्रतिकृति में एक रहस्यमय सम्बन्ध होता है। चित्र उतारने का अब एक उद्देश्य और अर्थ हो गया। चित्रकला को अब एक मर्यादा प्राप्त हुई और यह आवश्यक हो गया कि चित्र प्रकृति की वास्तविकता के अनुरूप हों, क्योंकि चित्र सत्य के जितना निकट होता उसका प्रभाव भी उतना ही अधिक पड़ता। इसी प्रकार विश्व समस्याओं पर आनुमानिक विचार-धारा का भी महत्व बढ़ा और उसका विकास भी होने लगा। अपने उद्देश्य के अनुसार यह कला प्रकृतिमूलक थी क्योंकि इच्छित उद्देश्य की पूर्ति की निश्चितता के लिए पशुओं का चित्र हूबहू उसी तरह उतारना जरूरी था। शिकार के पशुओं के जो गतिमय चित्र उतारे गये हैं उनमें भी प्रकृति के प्रति अपूर्व वफादारी बरती गयी है। अधिकांश क्षेत्रों में इन चित्रों का उद्देश्य बहुत स्पष्ट है। पशुओं का झुण्ड या यौन-क्रिया-रत पशुओं को चित्रित करने का यह उद्देश्य था कि बाहर भी पशुओं का झुण्ड और पशुशावक हों। जानवरों के वेश में मनुष्य को चित्रित करने का उद्देश्य यह था कि मनुष्य जादू कर रहा है ताकि जिन पशुओं की नकल वह कर रहा है उनकी संख्या बढ़े या उनके शिकार में मनुष्य को सफलता प्राप्त हो। किन्हीं पशुओं पर किसी व्यक्ति विशेष का हाथ चित्रित किया गया है, अर्थात् ये लोग इन पशुओं को प्राप्त करें। औरतों की छोटी और ठोस

मूर्तियाँ भी हैं। हो सकता है कि इनका उद्देश्य यह रहा हो कि मूर्तिकारों को सुन्दर पत्नियाँ और सन्तान मिलें।

मृतकों को पहले-पहल कब्र में डालने वाले आरगनेशियन सभ्यता के प्रतिनिधि ही थे। उन्हें जीवन में एक हद तक आराम मिल चुका था और अनिश्चितता के भय से भी वे मुक्त थे। मृत्यु के बाद भी उन्हें वे खोना नहीं चाहते थे। कन्दरा निवास से वे परिचित थे, इसलिए मुर्दों को भी उन्होंने कन्दराओं में दफनाया। मृतकों के साथ उनके हथियार, निदर्शन, रंग, शिकार के तावीज, कुछ माँस और पत्नी या भृत्य की एक तस्वीर भी रख दी जाती थी, और एक बगल से उन्हें लिटा दिया जाता था कि जानवर या दुश्मन उनका पता न लगा सकें और उन्हें विनष्ट न कर सकें। उन्हें हर प्रकार से सम्मान प्रदान किया जाता था ताकि जीवितों के प्रति वे रुष्ट न हों। वे मानो उसी दुनिया में रह रहे थे जिसमें जीवित मनुष्य बसते हैं। शिकार के लिए सहायक चित्रों के नमूने पर ही यह अनुमान किया गया होगा कि मनुष्य के बाहरी अवशेष की रक्षा से भी किसी विशेष इच्छा की पूर्ति सम्भव थी। जब लोगों ने देखा कि बात इतनी सरल न थी तो उनके विचार भी दूसरी ओर मुड़ गये।

कन्दराओं में चित्र रखने का कारण यह रहा होगा कि जाड़े में जब वे कन्दराओं के अन्दर चले जाते थे तो शिकार में सफलता की अपनी इच्छा पर चिन्तन करने का उन्हें काफी अवकाश मिल जाता था। लेकिन कन्दराओं और चित्रों का यह आकस्मिक संयोग परिणामदायक सिद्ध हुआ। लोग सोचने लगे कि चित्रों के जादू का शिकार पर यदि प्रभाव नहीं पड़ा तो

उसका कारण यह था कि चित्रों में पूरे व्यौरे समा न पाए होंगे या चित्रकारी और गुप्त रूप से होनी चाहिए थी। इसलिए हम देखते हैं कि कुछ चित्र वहुत अन्दर की गुफाओं में रखे गए है। लामूथ में प्रवेश-द्वार के ९३ मीटर के आगे और कोम्वारेले में ११८ मीटर और अन्दर की ओर ये चित्र रखे गए हैं। पत्थर के खोखलों में विलकुल प्रारम्भिक किस्म के दीप के सहारे लोगों ने ये चित्र वनाये थे। जानवरों का वेश ओढ़े जादूगर उन्हें अन्दर ले गए होंगे और चित्रकार भी निश्चय ही उसी प्रकार का भेष वनाये होंगे। चित्रों के सामने या चित्रों के ऊपर वे कुछ अनुष्ठान आदि करते होंगे। इस प्रकार कन्दरा मन्दिर का और चित्रों की पूजा का अविर्भाव हुआ होगा। जव किसी एक समय उनके दिमाग में देव-देवी की कल्पना आ गयी होगी तो ये चित्रित पशु ही देवता या देवी वन गये होंगे। तव पुजारी भी पशु वेश में ही उनकी पूजा करते होंगे और भक्त-जन यज्ञ-भोज में उन्हीं पशुओं का भक्षण करते होंगे।

इसी काल में कन्दराओं के जादू-अनुष्ठानों से अग्रसर होकर लोग देवता की पूजा करने लगे और जान पड़ता है कि उनके पूज्य देवता थे सूर्य। हिमयुग के लोगों के लिए जीवन, गर्मी और रोशनी से सूर्य का एक सम्वन्ध जोड़ना कठिन न रहा होगा। उनकी कल्पना के अनुसार जाड़ों में सूर्य किसी पहाड़ या कन्दरा में छिप जाता है और वैल, हाथी, घोड़ा और हरिण आदि जानवरों से परिवेष्टित होकर पड़ा रहता है। जव वह काफी शक्ति-संग्रह कर लेता है तो शीत रात्रि के दुष्ट दैत्य को पछाड़ देता है। डेढ़ या दो हजार मीटर की ऊँचाई पर वाइल्ड-

किर्चली ड्राकेन लॉक में ऐसे गुहा हैं जहाँ कोई चित्र नहीं है और न वहाँ मनुष्य का ही निवास हो सकता था और सूर्य मन्दिर के रूप में ही उनकी कल्पना की जा सकती है। वाद के काल में स्पेन के मासदाजिल, गोगुल और आतथारा गुहाओं में सूर्य-पूजा के कुछ चिह्न मिलते हैं। स्पेन में आरिगनेशियन सभ्यता की अन्तिम शाखा ने सौर-वर्ष की भी एक कल्पना करली थी।

आज की सभ्यता यद्यपि उसी आदिम सभ्यता की नींव पर खड़ी है तथापि आधुनिक सभ्यता के आधार पर उस युग की कल्पना करना वहुत कठिन है, क्योंकि दोनों के वीच मेल वहुत कम दिखाई देता है। परन्तु मनुष्य जव प्राचीन पाषाण युग को पार कर नवीन पाषाण युग में पहुँचा तो आधुनिक और आदिम का भेद प्रायः मिट सा ही गया। दोनों में अन्तर तो वहुत है परन्तु वह परिमाण का है, प्रकार का नहीं।
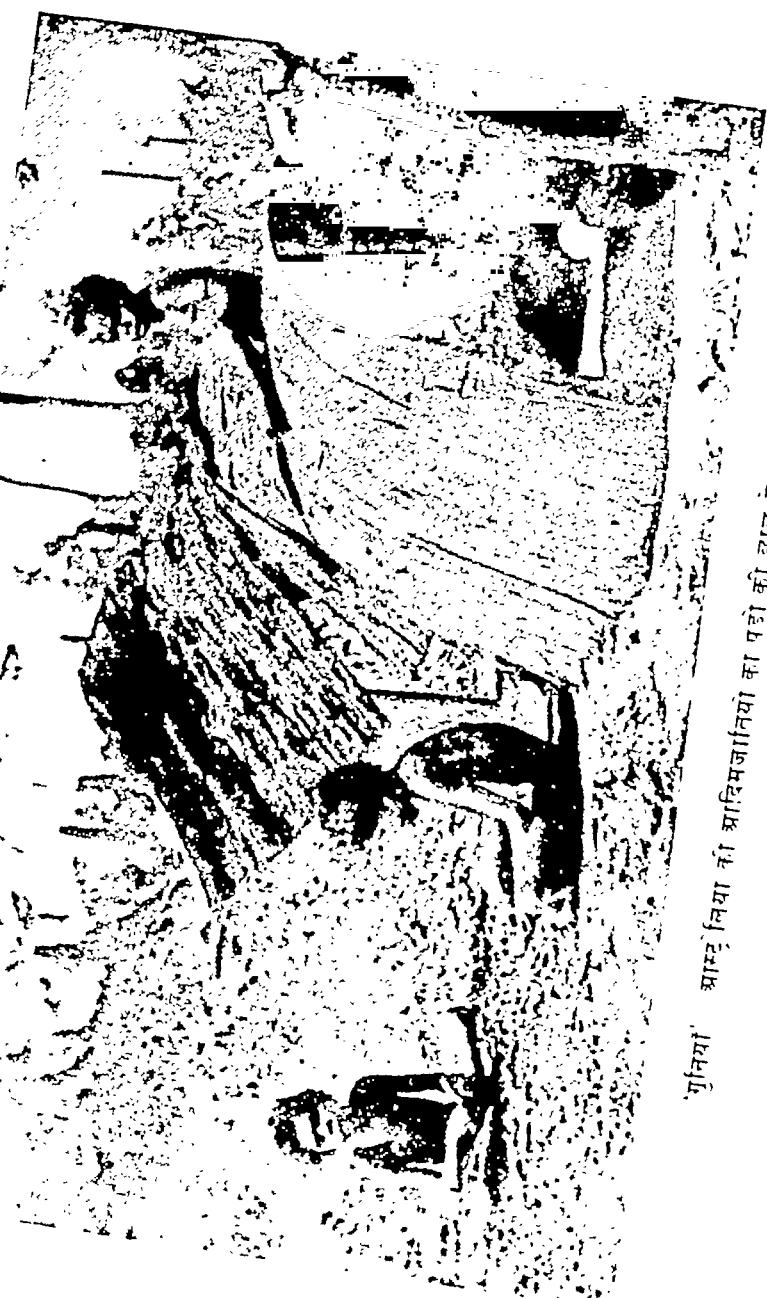
'गुनियां' आस्ट्रेलिया की आदिमजातियों का पेड़ों की छाल से बना हुआ मकान

सूर्य-पूजा

नव-पाषाण युग में कन्दरा सभ्यता लुप्त-सी हो गयी। लोग गुहाओं या कन्दराओं में नहीं रहते थे बल्कि गड़े खोद कर उन्हीं में रहने लगे। परन्तु मृतक कन्दराओं में ही दफनाये जाते थे। कन्दरा-निवासी यूरोप में फैल गये थे। वे जब अपने से कम उन्नत लोगों के सम्पर्क में आये तो एक मिश्र प्रान्तीय सभ्यता की सृष्टि हुई और वर्णसंकर जातियाँ पैदा हुईं। इन जातियों ने कन्दरा-निवासियों के मूल निवास स्थान पर आक्रमण किया जिसके बाद उत्तरी समुद्र, बालटिक सागर और आल्प्स पर्वत के बीच विशाल अरण्य भूमि में नयी सभ्यता की सृष्टि हुई। इस भूखण्ड के निवासी पुरानी सभ्यता की सारी चीजें अपना चुके थे, साथ ही नयी चीजें भी उन्होंने बनायीं जिससे आखेट सभ्यता से भिन्न आदिम कृषि सभ्यता का प्रथम आविर्भाव हुआ। ये जौ पैदा करने लगे थे और पशुपालन भी करते थे। यह ईसा पूर्व ६ हजार वर्ष की बात है। इस नयी सभ्यता के केन्द्र कहाँ-कहाँ थे, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। पौराणिक कथाओं से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया में भी ये केन्द्र थे। अब तक जो मालूम है उससे यह जानकारी मिलती है कि जटलैण्ड प्रायद्वीप (डेनमार्क आदि) इसका एक केन्द्र था। कुछ दिनों बाद स्विटजरलैण्ड और डैन्यूब नदी के पास भी ये केन्द्र मिलते हैं।

जिन नये आविष्कारों के कारण नव-पाषाण युग प्राचीन

पाषाण युग से भिन्न और पृथक है, वे विभिन्न स्थानों में किये गये थे। पशु-पालन और कृषि सम्बन्धी आविष्कार सम्भवत: दक्षिण-पूर्वी यूरोप या मेसोपोटामिया (वर्तमान सीरिया आदि) में किये गये। विश्व सम्बन्धी धारणाओं का आविष्कार सम्भवत: मध्य-यूरोप के उत्तरी भाग में किया गया। लेकिन आविष्कार होने के बाद ये चारों ओर फैलते गये। जो भी हो, यह निश्चय है कि ईसा पूर्व ३५०० वर्ष तक सम्पूर्ण मध्य यूरोप और पूर्वी यूरोप के कुछ भागों में नव-पाषाण सभ्यता फैल गयी। मूलत: वर्तमान सभ्यता के सभी उपादान नव पाषाण सभ्यता में मिलते हैं। अन्तर केवल प्रक्रियात्मक है, जैसे करघा वही है लेकिन बिजली आदि के प्रयोग के कारण करघे का रूप आज मशीन का है।

लक्ष्य करने की बात है कि उस युग के जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण में भी आज के हमारे अनेक परिचित तथ्य मिलते हैं। आंशिक रूप से यह दृष्टिकोण उन्हें प्राचीन पाषाण युग से प्राप्त हुआ। प्राचीन युग में भी सूर्य की परिक्रमा से (पृथ्वी सूर्य के चारों ओर परिक्रमा करती है, यह बहुत बाद की जानकारी है) पशु और पौधों की उर्वरता के सम्बन्ध को लोगों ने लक्ष्य किया था। इसके विकसित रूप में नव-पाषाण युग में सूर्य की कल्पना इस प्रकार की गयी कि वर्ष के दो भाग ठण्डे और गर्म सांडों या दो दैत्यों के युद्ध के परिणामस्वरूप हैं। एक दैत्य उज्ज्वल है जो गर्मी में विजयी होता है। जाड़ों में काला दैत्य शुक्ल दैत्य को पछाड़ देता है, जो पहाड़ों के उस पार जा छिपता है। वहाँ या तो वह स्वयं शक्ति संचय कर लेता है

अमेरिका की आदिम जाति नावाहो की कुटिया

और पुनः विजय प्राप्त करता है या उसका लड़का गरमी में आकर काले दैत्य को पछाड़ देता है। शुक्ल दैत्य स्वयं विजयी होता है तो मानो वह मुर्दा से जिन्दा हो उठता है। सूर्य मरता है अवश्य, नहीं तो शीत कैसे आ सकता है, लेकिन वह जिन्दा भी है, नहीं तो अगले साल फिर गर्मी कहाँ से आ जाती है। यहीं से पुनर्जीवन या मृतक के जी उठने का ख्याल पैदा होता है।

सूर्य-कल्पना उत्तरी भाग में ही अधिक बलशाली हुई। हिम युग के हटने के बाद एक तो दक्षिणी भाग में गर्मी या जाड़ों की वह समस्या नहीं रही और दूसरे नव-पाषाण युग में कृषि भी एक जीविका बन गयी थी और ठीक समय पर बोने के लिए उन्हें सूर्य के मार्ग की जानकारी की अधिक आवश्यकता थी। प्राचीन पाषाण युग के शिकार जीवियों को अब जाड़ों में भी शिकार मिल जाता था, इसलिए सूर्य-कल्पना का विशेष विकास उनमें नहीं हुआ। सूर्य देवता अब कृषि और पशुपालन के स्रष्टा बन गये। वृष देवता के रूप में वह प्रकृति की उर्वरा शक्ति के प्रतीक स्वरूप हो गये। सूर्य की इन कल्पनाओं से पौराणिक कथाएँ बनने लगीं। सूर्य-कल्पना ही इन कथाओं का केन्द्र है। दो भाई, वर्ष के दोनों भागों के समान हैं और एक ही स्त्री के चाहने वाले हैं। स्त्री को उनमें से कोई छीन लेता है या वही किसी एक के साथ विश्वासघात करती है। नहीं तो वह मृत्यु तक वफादार बनी रहती है और अरक्षित शिशु का पालन-पोषण करती है जिससे वह पिता की मृत्यु का बदला चुका सके। दोनों भाई (वर्ष के दोनों भाग)

रथ पर चढ़कर या नावों पर सवार होकर और गडांसा लेकर लड़ते हैं। इस प्रकार दो गंडासे, सांड, पहिया या नाव सूर्य के प्रतीक वन जाते हैं। ऋग्वेद में भी सूर्य रथारूढ़ है। राम को यदि शिकार सभ्यता का प्रतिनिधि मान लिया जाय तो शत्रु के रूप में परशुराम गंडासा (परशु) लेकर उनसे लड़ने आते हैं। इससे यह अनुमान भी लगाया जा सकता है कि भारत में भी नव-पाषाण युग की सभ्यता या तो स्वतन्त्र रूप से मौजूद थी या यह सभ्यता भी यहाँ फैल गयी थी। सादृश्य के अन्य उदाहरण भी पाये जाते हैं।

इस कल्पना के अनुसार सूर्य जाड़ों में पहाड़ के उस पार कन्दरा में जा छिपता है। सूर्य कथा में इस कन्दरा या पृथ्वी के प्रतिनिधि के रूप में सर्प का आविर्भाव होता है, क्योंकि सूर्य की तरह सांप भी कन्दराओं में रहता है। पृथ्वी के प्रतिनिधि के रूप में स्त्री भी एक प्रतीक स्वरूप है जिसे उज्ज्वल भाई कृष्ण भाई से मुक्त करता है। ईसा पूर्व चार हजार और तीन हजार वर्षों के वीच, नव-पाषाण युग की सभ्यता-भूमि में सूर्य कथा के प्रचलित रूप ने वर्ष की गति को विभाजित किया। यही विभाजन आगे चल कर सुमेर और मिस्र में मिलते हैं। वर्ष का आरम्भ नववर्षोत्सव से होता है जव सूर्य देवता अपने कृष्ण भाई पर विजय प्राप्त करता है और उसका विवाह होता है। ह्विट्सन्टाइड के यूरोपीय त्यौहार पर सूर्य के उपचार चारों ओर दिखाई पड़ते हैं। ग्रीष्म-काल के मध्य भाग में सेण्ट जान्स दिवस मनाया जाता है। वर्ष अव फसल कटाई की ओर ढल रहा है और अव मृतकोत्सव होता है। दुष्ट

भ्राता ने सूर्य देवता का हनन किया है, पर्वत समाधि में उसका शव पड़ा हुआ है। उसकी विश्वस्त स्त्री भाग गयी है और गर्भावस्था में उसने पहाड़ या कन्दरा का आश्रय लिया है। वहीं वह गोपन में सूर्य के उत्तराधिकारी और अपने पिता के प्रतिशोधदाता को जन्म देती है और यही क्रिसमिस का त्योहार है। शिशु बड़ा होकर नव वर्ष की विजय प्राप्त करता है। इसमें मानवीय सम्बन्ध भी पूर्णतः प्रतिबिम्बित ही है।

सूर्य-कथा ने न केवल उत्सव चक्रों में वर्ष को विभाजित किया बल्कि देवताओं की पूजा और मृतकों के प्रति श्रद्धार्पण के लिए पूत स्थानों को भी जन्म दिया। प्रकृति-पूजा के पवित्र स्थान थे वृक्षगुच्छ, जो जंगल काटते समय छोड़ दिये जाते थे और जहाँ से नव वर्ष पर सूर्य दिखाई देता था। जहाँ पहाड़ थे वहाँ पहाड़ ही पवित्र स्थान होते थे। जहाँ पहाड़ या वृक्षगुच्छ दोनों ही नहीं थे वहाँ कृत्रिम रूप से टीले बनाये जाते थे। यही देवता का समाधिस्थल भी था। इन टीलों से ज्योतिष का उद्देश्य भी सिद्ध होता था। सूर्य-पूजा में खेल-कूद की भी बुनियाद पड़ी। नव वर्ष पर विजयी सूर्य देवता को नमस्कार करने के लिए लोग इकट्ठा होते थे और जुलूस और खेलकूद से विजय समारोह मनाते थे। देवता के संग्राम का अनुकरण करते हुए पुरुष भी धनुष या गंडासा लेकर घोड़ा, रथ या नाव की सवारी पर परस्पर द्वन्द-युद्ध करते थे। सम्पूर्ण समुदाय विजय समारोह मनाने के लिए नाचता गाता था। गेंद का खेल भी इस प्रकार शुरू हुआ कि सूर्य के प्रतिनिधि के रूप में उसे किसी तख्ते के सुराख से निकालना पड़ता था। देवता के विवाह ने अबाध

यौन मिलन और वयः संस्कार उत्सवों को जन्म दिया और देवता की मृत्यु ने शोक समारोह का अवसर प्रदान किया। सूर्य-कथा में सींकदार पहिये का भी विशेष अर्थ वन गया। चार सींक-सहित विना टूटा पहिया अक्षत सूर्य का प्रतीक है। विना पहिये के आलम्व सींक का रूप क्रॉस जैसा है। यह मृत सूर्य का प्रतीक है। चारों सींकों में पहिये का कुछ हिस्सा जुड़ जाय तो उसका रूप स्वस्तिक जैसा हो जाता है। यह इस घटना का प्रतीक है कि सूर्य अव विजयी होने जा रहा है।

सूर्य-धर्म नव-पाषाण युग की महान् सांस्कृतिक देन और पहला विश्व-धर्म है। 'मॅन्' 'मेन', 'मिन्', 'मोन', 'मुन्' और 'हॅर', 'हिर', 'होर', 'हुर'—ये शव्द रूप नव-पाषाण युग की सूर्य कथा के चिह्न स्वरूप हैं। 'मन्' 'मिन' आदि वृषसूर्य के मूल नाम हैं और 'हर' 'हेर' आदि किशोर सूर्यदेव के नाम हैं। दोनों के मिलन से मिस्री शव्द-रूप 'अरमिन' और 'मेनहिर' वने हैं। लक्ष्य करने की वात है कि शिव का भी एक नाम 'हर' है। गोरे और काले भाइयों के रूप में कृष्ण, वलराम का भी सादृश्य है।

जन-संख्या में वृद्धि के कारण जव मध्य यूरोप से जन-निर्गमन हुआ तो वे नव-पाषाण सभ्यता को भी अपने साथ ले गये। ईसा पूर्व ३५०० वर्ष तक इण्डोजर्मन कवीलों के पूर्वज मेसोपोटामिया और मिस्र को पहुँच चुके थे। इण्डोजर्मन कवीले दुनिया भर में, भारत और उत्तर अमेरिका तक पहुँच गये। इस प्रकार मेक्सिको में 'माया' सभ्यता की सृष्टि हुई। नव-पाषाण युग ही विश्व का सवसे पहला सभ्य युग है।

आदिम मनुष्य के प्रारम्भिक आविष्कार

प्राणि जगत के विकास के प्रायः अन्तिम स्तर पर जब पूर्णावयव मानव जाति की सृष्टि हुई तभी से प्रकृति पर मनुष्य की विजय के इतिहास का भी प्रारम्भ होता है, मानो प्रकृति पर विजय पाने के लिए ही इस मानव जाति का जन्म हुआ है। एक-एक आविष्कार इस विजय के इतिहास का एक-एक अध्याय है। मानव-जीवन के पांच अत्यावश्यक आधार हैं। वे हैं—(१) औजार, (२) बोली, (३) आग, (४) ईन्धन और (५) वस्त्र।

सभ्यता की प्रथम सीढ़ी पर ही शायद औजार मनुष्य के हाथ लगा। यह स्वाभाविक ही था, क्योंकि मानव-वंश के प्रारम्भिक काल में नर जातीय वानर और वानर जातीय नर दोनों ही जंगलों में पेड़ों पर निवास करते थे और जब पेड़ों पर से उतर कर वे जमीन पर चलने लगे तो कुछ पकड़ कर चलने में उन्हें अवश्य सुविधा हुई होगी और पेड़ों की जिन्दा शाखा के बजाय निर्जीव शाखा (जो पेड़ों के नीचे ही उन्हें पड़ी मिलती) पकड़कर चलने से अधिक सुविधा और क्या मिल सकती थी। समय के साथ हाथ की यह लकड़ी पेड़ों से फल आदि तोड़ने के काम में आने लगी और इस प्रकार यह मानव-जाति का पहला औजार बनी।

औजार के इस्तेमाल और औजार बनाने में इतना अधिक व्यवधान नहीं है जैसा लोग समझते हैं। पेड़ की एक डाल उठा

लेना ही एक प्रकार से औजार का वनाना भी है और पेड़ की डाल तोड़ कर इस्तेमाल करना तो और भी अधिक स्वाभाविक है। देखा जाय तो प्रकृति ने ही वहुत से वने वनाये औजार मनुष्य के आगे रख दिये थे। किन्तु आवश्यकता तथा अनुभव के अभाव के कारण ही उनका पहले से प्रयोग न हो सका। यहां कई प्रश्न एक साथ उठते हैं। इनमें एक यह है कि क्या आदिम मनुष्य की बुद्धि-शक्ति उतनी ही तीव्र थी जितनी आज है? इसका उत्तर 'हाँ' में ही दिया जा सकता है, क्योंकि तव से आज तक मस्तिष्क के आयतन में कोई वृद्धि नहीं हुई है। दूसरा प्रश्न यह है कि अभाव का वोध उत्पन्न कैसे हुआ? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि उस जमाने में खाद्य ही प्रधान और एकमात्र आवश्यकता थी और जव खाद्य के परिमाण की तुलना में जनसंख्या की अधिकता हुई, तभी अभाव का प्रथम वोध उत्पन्न हुआ और उसी अभाव की ताड़ना से मनुष्य पहले-पहल जंगल से हट कर मैदान पर उतरा। उसी समय जानवरों के सींग और उनकी हड्डियों के औजारों के रूप में प्रयोग करने की परिस्थिति पैदा हुई। परन्तु परिस्थिति पैदा होते ही औजारों का प्रयोग होने लगा, ऐसी वात नहीं है। यह प्रयोग अनुभव सापेक्ष था और अनुभव होने में भी दस वीस हजार वर्ष लग गये।

पुरातत्व ने प्रागैतिहासिक मानव के हथियारों और औजारों को ढूंढ निकाला है। भूगर्भ के जिस स्तर से वे प्राप्त किये गये हैं, उसी से उनके समय का भी अनुमान किया गया है। वास्तव में आज का मानव शास्त्र वहुलांश में पुरातत्व पर

ही निर्भर है। पुरातत्व के प्रमाणों के अनुसार प्रथम नर-जातीय मानव का उद्भव १० लाख से ६ लाख वर्ष पहले हुआ, परन्तु आज से २ लाख वर्ष पहले तक पत्थरों के मोटे औजारों के अलावा और किन्हीं औजारों का प्रयोग हुआ, ऐसा जान नहीं पड़ता। उस काल में लकड़ी के औजारों का इस्तेमाल भी अवश्य हुआ होगा, परन्तु कालवश वे लुप्त हो चुके हैं। उसके वाद के पचास हजार वर्षों में, अर्थात् डेढ़ लाख वर्ष पहले आधुनिक मानव के प्रथम पूर्वजों का उद्भव हुआ और तभी नुकीले और तेज धार वाले पत्थरों के तरह-तरह के वारीक औजार वनने लगे और एक प्रकार से देखा जाय तो आज के अधिकांश औजारों की नींव उसी समय पड़ चुकी थी। उन औजारों के देखने से पता चलता है कि उस समय जंगली फल-फूल खाने के अलावा मनुष्य जंगली जानवरों का भी शिकार करने लग गया था और केवल शाकाहारी न रह कर वह माँसाहारी भी वन गया था। खाद्य के इस परिवर्तन ने पुनः औजारों, हथियारों और आविष्कारों को जन्म दिया।

एक परिवर्तन से अन्यान्य परिवर्तनों का सूत्रपात होता है। इस युग को नव-प्रस्तर युग कहा जाता है। इस युग की सभ्यता का केन्द्र कहीं दक्षिण-पश्चिम एशिया में रहा होगा, क्योंकि फिलीस्तीन में ही (ओरिगनेशियन) सबसे पुराने चिह्न मिलते हैं। जान पड़ता है कि उस समय पत्थर के टुकड़ों से (कभी-कभी उनमें लकड़ी जोड़ कर) कुल्हाड़ी, वल्लम, रेती, हथौड़ा आदि वनाया जाता रहा। शिकार के वाद जानवरों की हड्डियों से औंजार वनने लगे थे। इन हड्डियों को औजार

का रूप देने में पत्थरों का ही प्रयोग होता रहा होगा। प्राचीन प्रस्तर-युग में भी मनुष्य शिकार करता रहा, परन्तु उसका तरीका था बड़े जानवरों की एक टाँग को फन्दों में फाँस लेना। विशालकाय हस्तियों (मैमाथ) के अवशेषों में इसका प्रमाण मिलता है। सम्भवत: अनुभवहीन शिशु-पशु ही इन फन्दों में पड़ते होंगे। पत्थरों के बारीक औजारों के बनाने के सिलसिले में ही पहले-पहल मनुष्य को आग जलाने की प्रक्रिया का ज्ञान हुआ होगा। पत्थर के टुकड़ों की रगड़ से जो चिनगारी पैदा होती है, उसी से यह ज्ञान सम्भव हो सका। यह निश्चय है कि उस समय मनुष्य न केवल जानवरों का शिकार करता था बल्कि जानवरों के माँस को आग में भून कर खाता था। आग जलाने में जानवरों की हड्डियों का ही प्रयोग ईंधन के रूप में किया जाता था। जिन गुहाओं और कन्दराओं में मनुष्य निवास करता था, उनके पीले और भूरे रंग से उपर्युक्त अनुमान लगाया जाता है। इस शिकार के कारण ही पारिवारिक श्रम-विभाजन की भी नींव पड़ी। स्त्रियाँ और बच्चे जंगली फल-मूल संग्रह करते थे और मर्द आखेट को जाते थे। इस प्रकार नर-नारियों का काम बँट गया था। जानवरों के चमड़ों का वस्त्र भी उसी समय बनने लगा था—यह हड्डियों की बनी हुई सुइयों से पता लगता है।

औजार, आग और वस्त्र की शुरुआत के साथ बोलचाल का भी अनिवार्य सम्बन्ध है, क्योंकि अनुभवों के आदान-प्रदान के बिना इन दिशाओं में प्रगति सम्भव न थी और बोलचाल ही इस आदान-प्रदान का साधन हो सकता था। मनुष्य को

गाय की तरह एक लम्बे अरसे तक पागुर करने की जरूरत न थी, न चीते की तरह हल्के पाँव चोरी-चोरी जंगल में रमने की जरूरत थी और न भयभीत खरगोश की तरह चुपचाप दाँत काटने की जरूरत थी।

इसलिए फुरसत के समय मनुष्य अपनी आवाज़ों से केवल यह जाहिर करना चाहता था कि उस क्षण वह किस प्रकार का अनुभव कर रहा था। इसलिए प्रत्येक आवाज़ एक प्रकार का अस्पष्ट वाक्य था जिसका प्रारम्भ था, "मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि"......। 'उफ' जैसे एक अधूरे चीत्कार का अनुवाद किया जा सकता है, "मैं अचानक एक दर्द का अनुभव कर रहा हूँ।" इस क्रिया रूप का उद्भव पहले हुआ होगा। संज्ञा की धारणा अधिक कठिन थी और इसका उद्भव बहुत बाद को हुआ होगा; लेकिन वास्तविक बोलचाल इसके बिना सम्भव नहीं हो सकती थी। नामवाचक संज्ञा का प्रयोग ही पहले हुआ होगा।

यह कल्पना की जा सकती है कि कोई व्यक्ति नींद में खुर्राटे लेता रहा होगा और खुर्राटे की आवाज़ की नकल से उस व्यक्ति का निर्देश किया जाता होगा। हो सकता है कि एक व्यक्ति जो जंगलों में चलते-फिरते अपने दल के अन्य व्यक्तियों से कुछ पीछे रह गया उसने 'कुहू-कुहू' की आवाज़ से दल को अपने स्थान का इंगित किया। मान लीजिये, बाद को एक औरत अपने साथियों से पृथक् होकर एक परेशानी की हालत में अपने दल के लोगों के पास पहुँची। परेशानी के अतिशय में ही उसने अपनी भावना को व्यक्त करने का

एक उपाय ढूँढ निकाला। उसने 'कुहू-ऊफ' की एक आवाज़ लगायी। अब उसके दल के व्यक्तियों ने समझा कि जो व्यक्ति 'कुहू' की आवाज़ लगाता है उसे अचानक एक दर्द का अनुभव होने लगा है। इस प्रकार संज्ञा और क्रिया के संयोग से एक पूरा वाक्य तैयार हो गया। यह ध्यान देने की बात है कि भाषा केवल भाव का वाहन मात्र नहीं है बल्कि भावों के उद्रेक का भी एक साधन है। इतना तो निश्चय ही है कि भाषा के बिना विचारों का विकास सम्भव नहीं, जैसे संकेतों के बिना गणितशास्त्र के बहुत दूर बढ़ने की सम्भावना नहीं। पहले से ही बोलचाल ज्ञान के श्रेणीकरण का एक बड़ा साधन था। प्रारम्भ से ही प्रत्येक संज्ञा और क्रिया एक वर्गीकरण का काम करते थे। हर बार जब एक पृथक्करण की जरूरत पड़ती, तो एक नया शब्द गढ़ा जाता। विशेष से विशेषण और निर्विशेष का ज्ञान काफी दिनों के अनुभव के बाद ही प्राप्त हो सकता था। वर्तमान बर्बर जातियों की भाषाओं के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि भाषा का प्रारम्भिक रूप था, विभिन्न परिस्थितियों की मन पर जो छाप पड़ती है उनका एक संग्रह। विश्लेषण की क्षमता-वृद्धि के साथ भाषा का विकास हुआ।

दो एक उदाहरणों से बात और स्पष्ट हो जायगी। आबिपोन जाति में 'मौजूद' के लिए 'एनेहा' और स्त्री जाति के लिए 'आनाहा' शब्द हैं जिन्हें अनुपस्थिति के पर्यायवाचक शब्दों से पृथक् किया जाता है। इसी प्रकार 'वह बैठा है' और 'वह बैठी है' के लिए 'हिनिहा' और 'हानेहा' शब्द हैं,

परन्तु 'वह' का कोई पर्यायवाची शब्द नहीं है। कभी-कभी दो एक शब्दों के द्वारा एक पूरी परिस्थिति का चित्र खींचा जाता है। उदाहरण स्वरूप टिएराडेल-फुएगो द्वीप के निवासी 'मामिहला पिनाटा पाई' शब्दों से यह अर्थ प्रकट करते हैं कि 'परस्पर को इस आशय से देखना कि उनमें से एक ऐसा कुछ करने को तैयार होगा जिसकी इच्छा दोनों रखते हैं लेकिन कोई तैयार नहीं है।'

धीरे-धीरे एक ओर भाषा के विकास ने मनुष्य के विचारों को सुस्पष्ट किया तो दूसरी ओर परिस्थितियों के परिवर्तन ने भाषा को और सुस्पष्ट रूप दिया।

मनुष्य ने औजारों का आविष्कार किया, भाषा की सृष्टि की और आग के प्रयोग को समझा, लेकिन रन्धन-प्रक्रिया तक पहुँचने के लिए बर्तनों की आवश्यकता थी। धीरे-धीरे बर्तन बनाने की विधि का भी उसने पता लगाया। पत्थरों के औजार बनाते समय ही मनुष्य ने लक्ष्य किया होगा कि एक जगह बार-बार रगड़ खाने के कारण पत्थर के अन्दर ही एक जगह ऐसी बन जाती है जिससे एक कटोरे की कल्पना हो जाय। दूसरे कदम पर पत्थर काटकर एक कटोरानुमा बर्तन बनाया गया होगा। एक दूसरे रूप में भी बर्तनों का उद्भव हुआ होगा। फल-मूलकन्द बटोरकर ले जाने के लिए लम्बे मजबूत घास और पेड़-पौधों की टहनियों को तोड़-तोड़ कर टोकरियाँ बनायी गयी होंगी। फिर उसमें पानी डाल रखने के लिए उन टोकरियों पर मिट्टी का प्रलेप दिया गया होगा। यदि घटनावश ऐसी टोकरी आग के पास पड़ी रही होगी तो

मनुष्य ने यह भी लक्ष्य किया होगा कि तप कर मिट्टी कड़ी पड़ जाती है और इस प्रकार मिट्टी के वर्तनों का आविष्कार हुआ। इसके वाद तरह तरह के उपकरणों से प्रस्तुत तरह-तरह के वरतनों का प्रचलन समय सापेक्ष मात्र था। इन वर्तनों के कारण ही पाक-प्रणाली का विकास सम्भव हो सका। ध्यान देने की वात यह है कि डलियों और टोक-रियों की वनावट ने ही मानव मन को कपड़े की वुनकरी की दिशा में प्रेरित किया। रुई से सूत निकाल कर कपड़े का वुनना तो वहुत वाद की वात है, लेकिन वल्कल और पशु-चर्म के परिधानों के वाद मजवूत घास और पौधों के ताने-वाने से प्रस्तुत वस्त्रों का प्रचलन हुआ। इससे भी वहुत समय के वाद सन के वस्त्रों का रिवाज चला और सभ्यता की विकसित अवस्था में ही रुई के वस्त्रों का प्रयोग होने लगा।

मानव जीवन के इन पाँच अत्यावश्यक आधारों के वन जाने के वाद ही मनुष्य को उन्नति की अन्य दिशाओं में मनोनिवेश करने का अवसर प्राप्त हुआ। इस सिलसिले में पहला सवाल मन में यह उठता है कि आदिकाल में मनुष्य रहता कहाँ होगा। नर-जातीय जीव तो जंगलों में पेड़ों पर ही रहा करते थे परन्तु आदि मानव जव जंगल छोड़कर मैदानों में आया, उस समय भी उसने अपने लिए कोई स्थायी निवास नहीं वनाया। जव चिड़िया भी घोंसले वना लेती है तो यह कल्पना अवास्तविक है कि अपने लिए कोई निवास-स्थान की उसे आवश्यकता न थी क्योंकि एक जगह वह रहता नहीं था। खाद्य की खोज में उसे इधर-उधर घूमते रहना पड़ता

था। इस खानावदोशी की हालत में भी उसे जाड़े की रातों में गुफाओं और कन्दराओं की शरण लेनी पड़ती थी। जहाँ प्राकृतिक गुफा नहीं होती थी वहाँ वह जमीन खोद कर ऊपर से पत्थर और लकड़ी बिछा कर एक छत जैसी बना लेता था।

आज भी आस्ट्रेलिया और अफ्रीका की जंगली जातियाँ नजदीक-नजदीक दो तीन छोटे लचीले पेड़ों के सिरों को बाँध कर उन पेड़ों की पत्तियों की सायेदार छत बना लेती हैं। पत्थरों को एक के ऊपर एक जोड़कर भी एक घेरा बना लिया जाता था, परन्तु ऊबड़-खावड़ पत्थरों की नीची दीवार ही बन सकती थी। जहां समतल पत्थर मिल जाते वहाँ ऊँची दीवारें भी बनायी जाती रहीं। पुवाल, गोबर मिट्टी और कच्ची ईंटों की दीवार बनाकर बाँस बल्लियों के ऊपर घास-फूस छा कर झोंपड़ियाँ भी तब बनीं जबकि मनुष्य ने खेती करना सीखा। मानव सभ्यता के एक ऊँचे शिखर पर पहुँच जाने के बाद ही पक्की ईंट तथा पत्थरों के मजबूत जोड़ से बड़ी इमारतों का बनना शुरू हुआ।

आदिम-मानव ने अपनी परिस्थितियों की उन्नति के लिए जिन उपायों का अवलम्बन किया, उनमें जानवरों का पालन एक विशेष प्रकार का महत्व रखता है। आज यह निश्चय करना अत्यन्त कठिन है कि मनुष्य ने खेती करना पहले सीखा या कि जानवरों का पालना। तथ्य की बात यह है कि प्रारंभ में पालने के लक्ष्य से ही मनुष्य ने पशुओं की घेराबन्दी नहीं की। बल्कि एक प्राकृतिक सामंजस्य के रूप में ही मनुष्य

और पशुओं का साथ होने लगा और धीरे-धीरे कई प्रकार के पशु मनुष्य के आश्रित हो गये। यह ध्यान देने की वात है कि एक लाख से ऊपर किस्म के जानवरों में से करीव पचास का ही मनुष्य से इस प्रकार का सम्वन्ध हो सका है और पालने की यह प्रक्रिया सभ्यता के प्रारम्भिक-काल में ही खत्म हो चुकी थी। आज की सभ्यता की उन्नत अवस्था में भी नये जानवरों के पालतू वनाने की कोई सूचना नहीं मिलती। किसी एक जानवर के पाल लेने से ही पालतू जानवरों की किस्म नहीं वन जाती है।

कुत्ते का ही उदाहरण ले लीजिये। सवसे पहले यही जानवर पालतू वना। पालतू कुत्ता शिकारियों का साथी वन गया और रखवाली के लिए भी उसका इस्तेमाल होता था और खाद्य घट जाने पर मनुष्य उसका माँस भी खा लेता था, लेकिन कुत्ता वास्तव में अपनी जरूरत से ही मनुष्य का पालतू पशु वन गया। अवशिष्ट और उच्छिष्ट भोजन उसके काम आता था और मनुष्य को यह सुविधा थी कि उसके निवास स्थान की सफाई भी उन कुत्तों के जरिये हो जाया करती थी। एक लम्वे अर्से तक मनुष्य पर ही अवलम्वित होने के कारण कुत्ता स्वयं ही एक पालतू जानवर वन गया। सूअर का भी इसी प्रकार का उदाहरण है। आवादियों के पास उच्छिष्ट भोजन और कूड़ा-कवाड़ के सहारे वह वस्तियों का ही एक वाशिन्दा वन गया। कुत्ते, सूअर और भेड़ ईसा पूर्व ४००० वर्ष पहले ही पालतू वन चुके थे। जान पड़ता है कि मिस्र में ही पहले सर्वाधिक संख्या में जानवर पालतू

बनाये गये। कम से कम तीन किस्म की भेड़ें मिस्र में ईसा पूर्व ४००० वर्ष के लगभग पालतू बन गयी थीं। यूरोप की बड़ी ऊन वाली भेड़ मध्य एशिया और ईरान से गयी थी। जंगली बकरियों की नस्ल से पैदा हुई बकरियाँ भी इन्हीं भागों में रहती थीं। गदहों का मूल-निवास अफ्रीका है और मिस्र में इन्हें काफी दिनों पहले पालतू बनाया गया। पहले इन्हें बोझ ढोने के लिए, बाद को गाड़ी खींचने के लिए और उसके भी बाद सवारी के लिए इस्तेमाल किया गया। मिस्र के बाहर ईसा पूर्व ३००० वर्ष के लगभग गदहों का इस्तेमाल हुआ जान पड़ता है। ईसा पूर्व ४,००० वर्ष के लगभग पश्चिमी एशिया में जिस घोड़े का आविर्भाव हुआ वह दक्षिणी रूस की नस्ल का था। ईसा पूर्व २,००० वर्ष के लगभग घोड़े पूर्व और दक्षिण में भी फैल गये। मध्य एशियाई तृण-भूमि के तेज घोड़े ईसा पूर्व हमलावरों के साथ मेसोपोटामिया पहुँचे। ये ही अरबी घोड़ों के पूर्वज हैं। दो कूबड़ वाले ऊँट भी मध्य एशिया में ही बसते थे और सम्भवतः ईसा पूर्व ४,००० वर्ष के लगभग ये पालतू बनाये गये। परन्तु मेसो-पोटामिया में इनका आविर्भाव ईसा पूर्व १००० वर्ष के लग-भग हुआ। इसी समय सवारी के इस्तेमाल में लाये जाने वाले एक कूबड़वाले ऊँट का प्रचलन अरब देश में हुआ। पालतू बिल्ली का प्रचलन भी मिस्र में ही पहले-पहल ईसा पूर्व ५००० वर्ष के लगभग हुआ। पालतू हाथी और मुर्गे का प्रचलन भारत से हुआ।

यह लक्ष्य करने की बात है कि शिकार के पशुपालन की

प्रवृत्ति मनुष्य में तव पैदा हुई जव उनके सम्वन्ध में सम्पत्ति की भावना मानव-मन में जागृत हुई। इस सम्पत्ति की रक्षा वह अन्य जानवरों से तथा मनुष्य के ही अन्य दलों से करने लगा। मनुष्य के कैदी वन कर इन जानवरों में भी नये गुण उत्पन्न हो गये और उनकी किस्मों में भी परिवर्तन हुआ। मनुष्य अपनी इस पूंजी को खत्म न कर, इन जानवरों के संवर्द्धन की ओर अधिकाधिक ध्यान देने लगा। धीरे-धीरे दुधारू जानवरों के दूध आदि का भी इस्तेमाल होने लगा, परन्तु गाय आदि का पालन खेती के प्रारम्भ के वाद ही संभव हो सका।

औजार, भाषा, आग, पाक-विद्या, वस्त्र, निवास-स्थान और पालतू पशुओं की प्राप्ति के साथ मनुष्य ने प्रथम युग में पदार्पण किया। प्रागैतिहासिक युग के इन आविष्कारों पर ही मानव समाज की वर्तमान उन्नत सभ्यता खड़ी हुई है। शिकारी युग के तीर-कमान १६वीं शती तक भी युद्ध के प्रधान शस्त्र वने रहे। धनुर्विद्या के धुरन्धर अंग्रेजों ने स्काटलैंड के वल्लमधारी सैनिकों को फ्लाडेन के मैदान में ९ सितम्वर, १५१३ ई० को परास्त किया। हजारों पुर्जे जोड़ कर आज जो पेचीदा मशीनें दिखलाई पड़ती हैं, उनकी वुनियाद भी उस मनुष्य ने डाली जिसने पहले-पहल लकड़ी में पत्थर जोड़कर एक वल्लमनुमा हथियार वनाया। दो चीजों का जोड़ ही एक महान आविष्कार था। इन आविष्कारों के अलावा भी कलात्मक तथा आध्यात्मिक जीवन में प्रागैतिहासिक युग की देन कम नहीं है। परन्तु इनकी एक स्वतन्त्र कथा है।

वग:संधि अनुष्ठान, जब कि शरीर के किसी अंग से खून निकाला जाता है

है कि लड़के को ऊपर हवा में उछाला जाता है और वह जमीन पर गिरता है तो उसकी काफी पिटाई की जाती है। उछालने का अभिप्राय यह है कि लड़का अच्छे डीलडौल को प्राप्त करेगा और पिटाई का अर्थ है कि समाज के वड़े-बूढ़ों के प्रति युवक का भय हो। अब लड़के को विवाहित स्त्रियों और अविवाहित लड़कियों से अलग कर उसे अविवाहित पुरुषों के साथ रखा जाता है। उद्देश्य यह है कि स्त्रियों के माता-रूप की धारणा को छोड़कर उनको पत्नी-रूप में वह देख सके। इस समय उसे केवल शाक सब्जी या फल मूल ही खाने को दिया जाता है और उसका नया नामकरण होता है। दूसरे अंक में ल्टाटा नृत्य होता है और पड़ौसी खेमों को अनुष्ठान में भाग लेने को आमन्त्रित किया जाता है। इसके वाद ही लड़के की सुन्नत की जायगी। नृत्य का उद्देश्य लड़के के शल्योपचार के भय को दूर करना है और निमन्त्रितों में जो औरतें हैं उनमें पुरुषों के प्रति दिलचस्पी पैदा की जाती है। तीसरा अंक सुन्नत का है। इस अवसर पर उसे पुनः एक नया नाम दिया जाता है। शल्योपचार से जो खून गिरता है उसे एक ढाल में रोप कर ढाल को फिर जमीन में गाड़ दिया जाता है। जव तक उसका जखम न सूखे उसे शल्योपचार करने वालों के सामने मौन रहना पड़ता है और उन्हें, जखम सूखने पर, माँस भेंट करना पड़ता है। इसके वाद कुछ अरसे के लिए उसे खाद्य सम्वन्धी विधि निषेध मानने होते हैं। माँस कुछ विशिष्ट पशुओं का ही वह खा सकता है। स्वादिष्ट भोजन से उसे वंचित ही रखा जाता है। इसके

लाटुको युवक—इसे अपनी जलाई गई बांह पर गर्व है !

कोई ६ सप्ताह बाद उस पर एक और शल्योपचार किया जाता है। लेकिन इसके पहले कई बूढ़े मिल कर उसके सिर पर इस तरह दाँत बैठा देते हैं कि खून गिरने लगता है। समझा यह जाता है कि इससे बाल अच्छे निकलेंगे। अन्तिम अंक है 'इकुरा' अनुष्ठान। इसमें दो महीने तक नृत्य होते रहते हैं। स्त्रियाँ केवल आरम्भ और अन्त में भाग लेती हैं। सब अनुष्ठान समाप्त हो जाने पर स्त्रियाँ आकर लड़कों के सीने और पीठ पर हाथ दबाती हैं और उनके आभूषण उतार लेती हैं।

इस अनुष्ठान की सामाजिक व्याख्या यह की जाती है कि बड़ों की सम्पत्ति बनी रहे और उनका शासन कायम रहे। जादू भी एक अंश तक इसमें शामिल है। दूसरे शल्योपचार का उद्देश्य यह बताया जाता है कि युवक इतना फुर्तीला होगा कि शत्रु के भाले बल्लम से वह युवक सदा बचकर निकल सकेगा। सुन्नत की भी कई प्रकार की व्याख्याएँ हैं। एक यह कि जनेन्द्रिय का चमड़ा जुड़ न जायगा, दूसरा यह कि यौन सम्बन्धी ज्यादातियाँ न होंगी और तीसरा यह कि युवक बड़ों का सम्मान करेगा। लेकिन इन सबके ऊपर, स्वयं बड़े बूढ़े यह व्याख्या करते हैं कि वे इन अनुष्ठानों में खाद्य संबंधी विधि निषेध द्वारा अपने लिए स्वादिष्ट भोजन सुरक्षित रख सकते हैं। दूसरा फ़ायदा यह है कि कई वर्ष तक ये युवक उन्हें माँस आदि भेंट करते रहते हैं और तीसरा यह कि नवयुवतियों को वे अपने भोग के लिए रख सकते हैं।

कृषि समाज में ये अनुष्ठान इतने जटिल नहीं होते क्योंकि अनुष्ठानों की संख्या ही बहुत बढ़ जाती है।

शयनागार

वयः संस्कार द्वारा किशोरों को जनजाति के पूर्ण सदस्य के रूप में स्वीकार किये जाने के बाद, कुछ दिनों उन्हें स्त्रियों से अलग मर्दों के बीच ही रखने की साधारण प्रथा है। शायद, विवाह के पूर्व कामवासना को नियन्त्रित रखना ही इसका उद्देश्य है। तथापि शयनागारों में ही किशोरों को नर-नारी मिलन का पहला परिचय प्राप्त होता है। युद्ध, शिकार और जादू के बीच ही लड़के जीवन बिताते हैं। जन-जातियों की बस्ती में मर्दों का यह सबसे बड़ा घर होता है जो तमाम गाँववालों की सम्पत्ति है। यहीं जातीय परिषद परामर्श करती है और अतिथि भी यहीं टिकाए जाते हैं। यहीं मर्द रात को सोते भी हैं। युद्ध के स्मारक, शिकार में प्राप्त कोई कीमती वस्तु या भिन्न प्रकार के धार्मिक प्रतीक आदि गांव समुदाय की अमूल्य सम्पत्तियाँ यहीं संचित रहती हैं। इस मकान में बच्चे, औरतें या वे जिनका संस्कार जातीय सदस्य के रूप में नहीं हुआ है, प्रवेश नहीं कर सकते। वयः संस्कार या जातीय संस्कार का पहला उद्देश्य ही लड़कों या युवकों को स्त्रियों के संस्पर्श से दूर रखना है। इन शयनागारों द्वारा यही उद्देश्य सिद्ध किया जाता है और ये अविवाहितों के आमोदगृह बन जाते हैं।

भारत की मूरिया जनजाति में इस प्रकार के शयनागार को जोड़ीदार भी कहा जाता है। विवाह-पूर्व-काल में एक

मर्द का एक ही औरत से सम्बन्ध इस प्रकार के शयनागार का मूल सिद्धांत है। इस जोड़ी में मर्द को चेलिक और स्त्री को मोतियारी कहा जाता है। दोनों की औपचारिक रूप से शादी हो जाती है और औरत मर्द के नाम का स्त्री रूप अपने नाम के आगे जोड़ सकती है। तलाक की अनुमति तो दी जाती है लेकिन बेवफाई के लिए सजा दी जाती है।

दूसरे प्रकार के शयनागार या घोटल में जो शायद बाद को बने, चेलिक और मोतियारी में स्थायी सम्बन्ध निषिद्ध है। कोई युवक एक ही लड़की के साथ लगातार तीन दिन से अधिक सोये तो उसे सजा दी जाती है। दोनों प्रकार के घोटलों में मनोवैज्ञानिक स्थिति तो भिन्न है। लेकिन अनुशासन, नित्यकर्म, सामाजिक कर्त्तव्य या मनोरंजन के मामले में कोई फर्क नहीं है। सामुदायिक सम्पत्ति और सामूहिक क्रिया की भावना को जागृत करना दूसरे प्रकार के घोटलों का मुख्य उद्देश्य है। इस घोटल में कोई विवाह नहीं होता। हर मोतियारी प्रत्येक चेलिक की सम्पत्ति है। इस प्रकार के घोटल को मुण्डी बदलना भी कहते हैं।

वास्तविकता यह है कि मूरिया प्रवृत्ति ही सम्पत्तिगत भावना, अकेलेपन और व्यक्तिगत भावना की विरोधी है। मूरिया का विश्वास है कि घोटल में प्रत्येक हर एक के लिए हो तो ईर्ष्या के लिए कोई स्थान न रहेगा। यद्यपि घोटल में प्रणय-व्यापार होता रहता है परन्तु गाँव के बड़े बूढ़े ऐसा भान करते हैं मानो वहाँ जो कुछ होता है वे जानते ही नहीं। साथ ही घोटल का मुखिया, जिसे कोटवार, सरदार, दीवान

आदि भिन्न भिन्न नामों से पुकारा जाता है, घोटल निवासियों पर पूरा नियन्त्रण रखता है। जिस तरह वयःसंस्कार पर नामकरण होता है उसी तरह घोटल में प्रवेश करने पर भी नामकरण होता है। जब तक नामकरण नहीं हो जाता, तब तक कोई घोटल का पूरा सदस्य नहीं माना जाता। घरवाले इस नाम से उन्हें कभी नहीं पुकारते। घोटल-जीवन का महत्व यह है कि विवाह के पहले प्रबल प्रेमासक्ति से बाद के विवाहित जीवन को नष्ट नहीं होने दिया जाता।

आदिम समाज में विवाह

आदिम समाज में विवाह के अनेक प्रकार भेद हैं। एक न्यूगिनी के द्वीप में ही, सौ मील के दायरे अन्दर, आरापेश, मुन्दुगुमोर और शाम्बुली, इन तीन जातियों में विवाह की तीन भिन्न प्रथायें हैं। इनके आधार पर आदिम समाज के एक बड़े भाग के लिए भी नर-नारी सम्बन्ध के विषय पर कुछ निष्कर्ष निकालना सम्भव है। विवाह की किसी विशेष प्रथा की समीक्षा या आलोचना के पहले यह समझ लेना नितान्त आवश्यक है कि आदिम समाज में भी निषिद्ध सम्बन्ध की भावना उतनी ही प्रबल है जितनी कि सभ्य समाज में। माँ बहन से शादी आदिम मानव के लिए भी कल्पनातीत है, यद्यपि इसका व्यतिक्रम हो सकता है जैसा कि सभ्य समाज में भी असम्भव नहीं है। आदिम समाज में विवाह की साधारण रीति विनिमय के सिद्धान्त पर आधारित है। यदि एक परिवार दूसरे परिवार से लड़की लेता है तो मुआवजा स्वरूप एक लड़की अपने परिवार से दूसरे परिवार को देता है। इस प्रकार भाई बहन की एक जोड़ी का किसी दूसरे परिवार के भाई बहन की जोड़ी से विवाह एक साधारण रिवाज है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि विवाह सम्बन्ध एक सीधी लकीर पर ही चला करता है। उसमें पेंचीदगियाँ और जटिलताएँ भी कम नहीं हैं। कुछ विशिष्ट जातियों में विवाह के उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

आरापेश जाति में माता पिता को विवाह की अधिक चिन्ता अपने लड़कों के लिए होती है, लड़कियों के लिए नहीं। लड़कियाँ पांच छः साल की होती हैं तभी लोग विवाह के लिए उनके निर्वाचन की दृष्टि से उन पर नजर डालने लग जाते हैं। नौ दस साल या उससे भी कम उम्र में ही लड़कियों की सगाई हो जाती है। दहेज लड़के के पिता को देना पड़ता है। लड़की के रजःस्वला होने के कुछ दिनों वाद यह दहेज दिया जाता है। दहेज मामूली होता है—दर्जन भर अंगूठियाँ और कौड़ियों के वने कुछ सामान। लेकिन असली कीमत तो इसके पहले ही चुका दी गई होती है, क्योंकि यौन सम्बन्ध के आठ दस वर्ष पहले ही वधू वर के घर में पलती रहती है। जव लड़की का वच्चा पैदा होता है तो लड़की वालों को फिर भेंट दी जाती है जिससे वच्चे पर लड़के वालों का अधिकार पक्का हो जाता है। सम्पूर्ण आरापेश समाज में सहयोग का वातावरण इतना प्रवल हो जाता है कि लड़की पति के यहाँ जाती है तो उसे अपरिचितों का सामना नहीं करना पड़ता है। घर के अन्य लड़कों लड़कियों के साथ वह खेलती रहती है, घर के काम में मदद करती रहती है। लेकिन सोती है वह लड़के के माता पिता के साथ, पति के साथ नहीं। लड़की के रजःस्वला होने के वाद जवतक कम से कम एक वर्ष वीत नहीं जाता तव तक पति-पत्नी सम्वन्ध कायम नहीं होता। मासिक के समय लड़की को एक अलग कुटिया दी जाती है। पहले मासिक के अवसर पर कुटिया वनाने में लड़की के भाई को

भी हाथ लगाना पड़ता है। मासिक होने पर लड़की को दो तीन दिन तक उपवास करना पड़ता है, पानी भी वह नहीं पी सकती है। तीसरे दिन जब वह कुटिया से निकलती है तो गार्हस्थ्य जीवन में उसके प्रवेश के चिह्न-स्वरूप उसका मामा उसके कन्धे और नितम्ब पर एक चीरा लगा देता है। उसके बाद उसका पति अपनी पत्नी के लिए एक आनुष्ठानिक भोजन बनाता है। सख्त किस्म की जड़ी-बूटियों और कन्दों का शोरुआ वह उसे पिलाता है। समझा यह जाता है कि इससे लड़की का शरीर मजबूत होगा। भोजन के बाद वह चौपाल में बैठाई जाती है और उसके भाई उसके चारों ओर एक वृत्त में बत्तियाँ जला देते हैं और अपने उपहार भी रख देते हैं। लड़का भी इसी अवसर पर अपने उपहार भेंट करता है। इसके बाद एक सप्ताह तक पति पत्नी दोनों मांस भक्षण नहीं कर सकते और लड़की एक महीने तक मांस नहीं खा सकती, न ठंडा पानी, या नारियल का दूध पी सकती है और न गन्ना चूस सकती है। इसके बाद जब कभी मासिक हो तो बिना किसी अनुष्ठान के ही वह अलग कुटिया में जा रहती है। प्रथम मासिक के अनुष्ठान के पश्चात् लड़की पहले जैसे ही रहने लगती है लेकिन तब सभी समझते हैं कि विवाह की तिथि निकट आ पहुँची है। सास ससुर लड़की पर से अपनी दृष्टि शिथिल कर देते हैं, और पति-पत्नी तब अकेले भी जा सकते हैं। विवाह की कोई निश्चित तिथि नहीं होती है। इन्हीं दिनों एक दिन दोनों का पति-पत्नी सम्बन्ध हो जाता है।

आरापेश विवाह का ढाँचा तो एक पत्नीक है लेकिन बहु-

विवाह की भी अनुमति है। वैधव्य इसका एक विशेष कारण है। कोई मर जाता है तो उसके घर वाले यही चाहते हैं कि विधवा उसी कवीले में रह जाय। उसका और कोई भाई हो तो उसी से उस विधवा की शादी हो जाती है, विशेषकर यदि उस विधवा की सन्तान हो। संतानहीन विधवा को, जव कोई उससे शादी न करना चाहता हो या वह स्वयं और किसी से विवाह करना चाहती हो तो उसे मैके वापिस जाने दिया जाता है। यदि वह दूसरे कवीले में शादी करती है तो उसका दूसरा पति उसके घर वालों को नहीं वल्कि उसके पहले पति के घर वालों को उपहार देता है। गैर कवीले के पति से विधवा का जो पहला वच्चा पैदा होता है वह दोनों पतियों के परिवारों का माना जाता है। कभी एक परिवार उसे खाता है तो कभी दूसरा परिवार। ऐसे वच्चों को अनुशासन में रखना कठिन होता है। अत्यधिक आशावादिता के कारण आरापेश युवक-युवतियों को विवाहित जीवन में दुखी भी होना पड़ता है क्योंकि अनेक कारणों से सम्यक सन्तुलन न होना भी स्वाभाविक होता है। पुरुष शासक है और नारी अनुशासित यह भावना आरापेश में नहीं होती। फिर भी लड़का यह उम्मीद करता है कि लड़की उसकी आज्ञाओं का पालन करेगी। परन्तु आज्ञापालन की शिक्षा लड़कियों को नहीं दी जाती यद्यपि एक रक्षक के रूप में लड़के के प्रति लड़की का झुकाव रहता ही है। यदि इस स्थिति में कोई अन्तर पड़ जाए तो दोनों के लिए जीवन भार हो जाता है क्योंकि सम्वन्ध विच्छेद की कोई विधि नहीं है। परिवार के

अन्दर भी पर-स्त्री गमन असम्भव नहीं परन्तु आरापेश आदर्श इतने मेल मिलाप का आदर्श होता है कि ऐसी घटनाओं की जानकारी के वाद भी दोनों पक्षों में प्रायः समझौता हो जाया करता है।

विवाह में नर-नारी की समानता का यह सिद्धान्त मुन्दुगुमोर जाति में भी पाया जाता है परन्तु न केवल उसका रूप प्रायः पूर्णतः भिन्न है वल्कि विकराल भी है। वहु-विवाह ही मुन्दुगुमोर का सामाजिक आदर्श है। एक पति की आठ दस पत्नियाँ भी हो सकती हैं। मुन्दुगुमोर परिवार की दो शाखाएँ होती हैं—एक में पुरुप, उसकी लड़कियाँ और उनकी सन्तान, दूसरे में नारी, उसका पुत्र तथा उसकी सन्तान। पिता की उत्तराधिकारिणी लड़की है और माता का उत्तराधिकारी लड़का है। लेकिन इन दोनों शाखाओं को काटती हुई एक और शाखा लड़की की एवज में लड़की देने की प्रथा से वन जाती है। विवाह की एकमात्र वैधानिक रीति यह है कि भाई अपनी वहन की शादी दूसरे परिवार में करके उस परिवार से अपने लिए पत्नी का संग्रह करे। लेकिन लड़की पर पिता का भी अधिकार होता है, इसलिए उस लड़की की एवज में अपने लिए भी पिता एक वधू ला सकता है। इस प्रकार लड़की के सौदे के लिए उसके सभी भाई और पिता भी प्रतियोगी हैं। ऐसी परिस्थिति में भाई-भाई में या पिता पुत्र में सद्भाव न तो सम्भव है और न होता ही है। यदि वहनों की संख्या भाइयों की संख्या से कम है तो कुछ के लिए वरजोरी विवाह के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रह जाता।

बहनों की उचित संख्या हो तो भी बाप बेटे की प्रतिस्पर्द्धा बनी ही रहती है। सम्पत्ति की दृष्टि से भी यह पिता के लिए अधिक लाभजनक है क्योंकि न केवल पत्नियाँ ही उसके लिए मूल्यवान तम्बाकू आदि पैदा करती हैं बल्कि पति अपने काम के लिए पत्नी के भाइयों की मदद का भी अधिकारी है। उधर माँ यह चाहती है कि उसकी लड़की की एवज में उसके लड़के को, न कि उसके पति को एक और बहू मिले। एक तो वह जानती है कि लड़की उसके अधिकार क्षेत्र में नहीं और दूसरा यह कि सौत एक झगड़े की जड़ है। पिता की एक पत्नी के लड़के दूसरी पत्नी के घर नहीं जा सकते परन्तु पुत्र-वधू पर माता का अधिकार है। यह समझना कठिन नहीं है कि ऐसे संघर्षपूर्ण समाज में लड़की की कीमत अधिक है और लड़की भी यह जानती है ऐसे वातावरण में नारी की स्वातन्त्र्य-प्रियता स्वाभाविक है। सौदे का साधन बन कर वह भाई भाई और पिता पुत्र में संघर्ष देखती रहती है। विवाह होने पर अन्य सौतों से उसका संघर्ष होता रहता है। सन्तान के कारण भी पति-पत्नी के सम्बन्ध में कटुता आ जाती है। साथ ही लड़का भी कम स्वतन्त्र नहीं होता क्योंकि पिता और भाइयों से उसे संघर्षरत रहना पड़ता है। इस अर्थ में लड़कों और लड़कियों में एक समानता है। यहां, यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि मुन्दुगुमोर एक नर-भक्षक जाति है और नर-मुण्ड शिकार में उनके लड़के-लड़कियां बन्धक में पड़ जाते हैं या अन्य लड़के लड़कियाँ उनके बन्धक में आ पड़ते हैं। इस परिवेश में वैध विवाह के बाहर भी कामोत्तेजनापूर्ण सम्बन्ध युवक युवतियों

के बीच हो जाया करता है। युवक की कोई वहन हो तो लड़की अपने पिता से कह सकती है कि उसने अपने लिए पति चुन लिया है और दोनों की शादी हो जाती है। परन्तु अवैध सम्वन्ध खतरे से खाली नहीं है क्योंकि मुन्दुगुमोर समाज में सतीत्व को काफी मर्यादा दी जाती है। सतीत्व नष्ट होने पर उस लड़की का विनिमय उसी लड़की के साथ हो सकता है जिसका सीतत्व नष्ट हो चुका है। चूंकि लड़की की एवज में ही लड़की मिलती है इसलिए नव-दम्पत्ति में उम्रों का एक वड़ व्यवधान भी असम्भव नहीं। लड़की वड़ी हो और लड़का वहुत छोटा हो तो एक विचित्र स्थिति उत्पन्न हो जाती है। लड़के के वड़े भाई या पिता की नजर लड़की पर होती है और यह लड़की पर ही निर्भर है कि वह किसे चुने। परिवार में कोई भी उसे पसन्द न हो तो वह भाग कर किसी और से शादी कर लेती है। लेकिन परिवार के लिए यह अपमान जनक है इसलिए लड़के को जवरन ही मच्छड़दानी के अन्दर कर दिया जाता है। मच्छड़दानी ही मुन्दुगुमोर का प्रेम-मदिर है। कोई लड़-झगड़ कर वाहर निकल जाये तो उसकी परवाह किसी को नहीं होती है। लड़के की शादी कर दी गई है और वह वधू से निभा न सके तो दोप उसी का है और किसी वहन के विनिमय का दावा वह वाद को अपने लिए नहीं कर सकता। दोनों वरावर उम्र वाले हों तो भी उनके वीच एक तनाव रहता है। आश्चर्य यह है कि ऐसा कटु-संघर्षपूर्ण समाज आज भी जीवित है। इसकी कुन्जी यह है कि कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनके सामाजिक आदर्श भिन्न हैं और अपने भाई

तथा बेटे से भी उनका स्नेहपूर्ण सम्बन्ध सम्भव है ।

शाम्बुली समाज पितृ-प्रधान है । गोष्ठियों में कुछ सूर्य-वंशी हैं और कुछ मातृ-वंशी । कभी कभी एक ही गोष्ठी में आधे लोग सूर्य-वंशी होंगे और आधे मातृ-वंशी । सूर्य-वंशी का विवाह मातृ-वंशी के साथ होना चाहिए लेकिन इसका व्यतिक्रम भी होता है । सीधा तरीका यह है कि एक गोष्ठी के पुरुषों का विवाह दूसरी गोष्ठी की नारियों से होता है । प्रायः लड़के की शादी उसकी माँ की चचेरी या फुफेरी वहन से होती है । वह 'प्राईयाई' शब्द का व्यवहार अपनी माँ के लिए भी करता है और अपनी पत्नी के लिए भी । उसके लिए माँ, मौसी, चाची, मामी और ममिऔत वहन एक ही जाति की हैं लेकिन फूफी और उसकी लड़कियाँ दूसरी जाति की हैं । इस दूसरी जाति की औरतें कभी उसकी पत्नी नहीं हो सकती हैं । वचपन से ही लड़का मामा आदि को उपहार देता है । इससे मानो उस गोष्ठी की लड़की पर उसका अधिकार हो जाता है । लेकिन विवाह के अवसर पर वधू के लिए कीमत चुकानी पड़ती है और लड़के का कोई निकट रिश्तेदार ही यह जिम्मेदारी अपने ऊपर लेता है । वहु-विवाह भी होता है, लेकिन सौतों में शायद ही कभी झगड़ा होता है क्योंकि अक्सर वे सगी वहिनें होती हैं । दोनों पत्नियाँ एक दूसरे के वच्चों की देखभाल करती हैं । यद्यपि शाम्बुली समाज का संगठन पितृ-प्रधान है और पुरुष अपनी पत्नी के लिए कीमत देता है और वहु-विवाह की प्रथा प्रचलित है परन्तु समाज में प्रधानता औरतों की ही है । इसका एक वड़ा

कारण यह है कि जीविका का उपार्जन अधिकांश रूप से औरतें ही करती हैं। दो पेशे मुख्य हैं—मछली पकड़ना और मच्छहरी (मच्छरदानी) बनाना और ये दोनों काम औरतें ही करती हैं। आनुष्ठानिक उत्सवादि कार्य पुरुष करते हैं और एक प्रकार से वे औरतों के मनोरंजन के साधन स्वरूप हैं। इस प्रकार शाम्बुली समाज में एक द्वेष-भाव है। नियम के अनुसार पुरुष की मर्यादा बड़ी है परन्तु वास्तव में मर्यादा नारी की ही अधिक होती है। विवाह में औरतों का चुनाव निर्णायक हो सकता है, लेकिन यह समस्या खड़ी न हो इसलिए चचेरी, फुफेरी जोड़ियों की शादी छोटी उम्र में ही कर दी जाती है। फिर भी आनुष्ठानिक नाच आदि के अवसरों पर युवक युवतियों का एक सम्बन्ध कायम हो जाया करता है।

आदिम विवाह में वधू खरीदने की प्रथा बहु प्रचलित है। दक्षिण अफ्रीका में वधू के लिए 'लोबोला' देने की प्रथा है। लेकिन विवाह का सामान्य सिद्धांत प्रायः सभी आदिम जातियों के लिए विनिमय ही है। लेकिन इस सामान्य सिद्धांत के व्यतिक्रम का भाग भी कम नहीं है। व्यतिक्रम में छीना-झपटी भी शामिल है लेकिन उसे भी बाद को एक वैधानिक रूप दे दिया जाता है। अक्सर वधू की रजामन्दी से ही लड़के वाले उसे चुरा या छीन ले जाते हैं। बाद को वधू पक्ष के लोगों को भेंट उपहार आदि दिये जाते हैं और लड़की का दाम भी चुका दिया जाता है या कभी लड़के वालों की किसी लड़की की शादी दूसरे पक्ष वाले किसी लड़के से कर दी जाती है। एक ओर यह प्रयत्न होता है कि विवाह सम्बन्ध

पड़ोस में ही हो और दूसरी ओर यह प्रयत्न होता है कि परिवार या गोष्ठी का दायरा विस्तृत होता रहे। कभी-कभी शत्रु-गोष्ठियों में शादी इसलिए की जाती है कि दोनों के बीच शत्रुता का अन्त होकर मैत्री संबंध कायम हो। इस प्रकार सरल होते हुए भी आदिम विवाह अत्यन्त जटिल है और यह समझना नितान्त भूल है कि जंगल का कानून ही आदिम विवाह का भी कानून है।

टोटेम

आस्ट्रेलिया की आदिम जातियों में धार्मिक तथा सामाजिक संस्थाओं की पूर्ति जिस प्रथा के द्वारा होती है उसे टोटेम कहते हैं। इस नाम का (टोटेम या टोटम) पता पहले पहल एक अंग्रेज श्री जे० लांग को १७६१ ई० में उत्तर अमेरिका के इण्डियनों से लगा। प्रागैतिहासिक मानव के लिए टोटेम प्रथा का महत्व क्या रहा है, इसके अनुसंधान का श्रेय स्काटलैंड निवासी श्री फरगुसन मैकलेनन को प्राप्त है। लेकिन नाम का पता लगने के बाद करीब सौ साल बीतने पर ही इस विषय पर एक वास्तविक प्रकाश पड़ सका। फिर भी, प्रसिद्ध नृ-शास्त्रविदों द्वारा इस विषय पर मनन किये जाने के बावजूद इस टोटेम के रहस्य का पूर्ण समाधान हो सका है, यह कहना कठिन है।

आस्ट्रेलिया की आदिम जातियाँ कई कबीलों में विभाजित हैं और प्रत्येक कबीले के टोटेम के नाम पर ही उस कबीले का नाम पड़ा है। यह टोटेम है क्या? साधारणतया यह कोई पशु-पक्षी होता है जो निर्दोष और भक्ष्य होता है या कोई खतरनाक जानवर भी हो सकता है। कदाचित् यह कोई पौधा होता है अथवा कोई प्राकृतिक शक्ति (वर्षा, जल आदि)। सारे कबीले का अपने टोटेम से एक विचित्र सम्बन्ध होता है। टोटेम ही कबीले का आदि पुरुष है और उसकी आत्मा और रक्षक भी। टोटेम भविष्यवाणी कर सकता है

और कुछ अर्थों में चाहे वह खतरनाक हो लेकिन अपनी संतान को वह जानता है और उन्हें वह कभी हानि नहीं पहुँचाता है। अतएव टोटेम के सदस्यों का भी यह पुनीत कर्त्तव्य हो जाता है कि अपने टोटेम का वध न करें, उसका माँस-भक्षण न करें अथवा अन्य किसी प्रकार से उसे भोग में न लायें। इन निषेधों का जो उल्लंघन करता है उसे (आदिम टोटेम जातियों की अपनी धारणा के अनुसार) आप से आप सजा मिलती है।

टोटेम की यह विशेषता किसी एक पशु आदि में निहित नहीं है वल्कि उसकी सम्पूर्ण जाति में ही यह गुण मौजूद होता है। समय-समय पर ऐसे उत्सव होते हैं जव कि टोटेम के सदस्य आनुष्ठानिक नृत्यों में अपने-अपने टोटेम की गतिविधियों का अनुकरण करते हैं। टोटेम वंशानुक्रमिक होता है, चाहे वह मातृकुल से हो चाहे पितृकुल से। सम्भवतः पहले मातृकुल से ही टोटेम का उत्तराधिकारी वनता था और वाद को पितृ-कुल से ही उत्तराधिकारी की परम्परा की सृष्टि हुई।

आस्ट्रेलियन कवीलों के सामाजिक कर्त्तव्यों के मूल में है टोटेम से उनका लगाव। टोटेम का सम्वन्ध रक्त सम्वन्ध को स्थान-च्युत कर देता है और इसका विस्तार कवीलों के सम्वन्ध के वाहर भी होता है। टोटेम किसी स्थान विशेष में सीमित नहीं है। एक ही टोटेम के सदस्य एक दूसरे से अलग भी रह सकते हैं और अन्य टोटेमों के सदस्यों से उनका मैत्री-पूर्ण सम्वन्ध हो सकता है। लेकिन एक विशेष वात लक्ष्य करने की यह है कि किसी भी टोटेम के सदस्य अपने वर्ग में ही शादी व्याह नहीं कर सकते या यौन-सम्वन्ध स्थापित नहीं

कर सकते। जहाँ कहीं टोटेम की प्रथा पाई जाती है वहाँ यह भी निषेध होता है कि एक टोटेम के सदस्य उसी टोटेम के अन्य सदस्यों से वैवाहिक सम्बन्ध कायम नहीं कर सकते।

टोटेम और बहिर्विवाह का संयोग एक रहस्य है जिसके उद्‌घाटन का भरपूर प्रयत्न किया गया है, लेकिन इस समस्या का अन्तिम समाधान हो चुका है, यह अभी तक नहीं कहा जा सकता। लेकिन टोटेम की यही एक समस्या नहीं है। सबसे पहले यह प्रश्न उठता है कि टोटेम से कबीलों का नामकरण कैसे हुआ। किसी कबीले ने किसी टोटेम का नाम क्यों अपनाया? इस प्रश्न पर विभिन्न मत हैं। हो सकता है कि विभिन्न कबीलों की पृथकता का निर्देश करने के लिए ही किसी एक कबीले ने दूसरे कबीले का पशु के नाम पर नामकरण किया हो। किसी पशु या पक्षी का नाम पहले चाहे उपहास या विद्रूप का ही नाम रहा हो परंतु इतिहास में ऐसे दृष्टांत पाये जाते हैं कि बाद को लोगों ने स्वेच्छा से ही उस नाम को अपना लिया। हर्बर्ट स्पेन्सर का यह विचार था कि दूसरों द्वारा प्रदत्त नाम में ही टोटेम का मूल निहित है। किसी व्यक्ति के गुणानुसार उसके साथ किसी पशु (उदाहरणार्थ सिंह) का नाम जुड़ गया और बाद की पीढ़ियों में भी वही पदवी जुड़ी रह गई। अक्सर व्यक्तियों के लिए भी जानवरों के नाम रख लिये जाते हैं और उनकी संतानें और उनके अनुयायी उसी नाम को अपना आदि पुरुष मान लेते हैं, और इस प्रकार धीरे-धीरे आगे चलकर उस पशु का ही सम्मान किया जाने लगता है और उसकी पूजा होने लगती है।

लेकिन टोटेम की इन विशेषताओं को ध्यान में रखना आवश्यक है—

(१) यह कबीले की एक निशानी है,

(२) यह कबीले का नाम है,

(३) यह कबीले के पुरखे का नाम है, और

(४) यह एक ऐसी वस्तु का नाम है जिस पर सारा कबीला श्रद्धा का भाव अर्पित करता है।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि कबीला-विशेष का पुरखा एक विशेष पशु (टोटेम) न होकर उस पशु की सम्पूर्ण जाति क्यों है। इस प्रश्न के उत्तर का समाधान यह किया गया है कि आदिम धारणा के अनुसार किसी व्यक्ति के मरने पर उसकी आत्मा किसी पशु विशेष में जा बसती है। लेकिन किसी विशेष टोटेम में वह आत्मा आविष्ट हुई, इसका निश्चय न होने के कारण उस पशु की सम्पूर्ण जाति से ही कबीले की आत्मीयता हो जाती है। टोटेम की जिन विशेषताओं का उल्लेख ऊपर किया गया है उनका प्रभाव कबीले के संगठन पर भी पड़ता है। एक ही टोटेम की सन्तान होने के कारण टोटेम वाला सारा कबीला एक ही परिवार बन जाता है, यद्यपि उस टोटेम के सदस्यों में रक्त का कोई सम्बन्ध नहीं होता है और न हो सकता है। इसी से बहिर्विवाह की प्रथा प्रचलित है, अर्थात् एक टोटेम के सदस्यों का विवाह किसी अन्य टोटेम के सदस्यों से ही सम्भव है।

यहाँ एक बात लक्ष्य करने की यह है कि टोटेम सम्बन्धी निषेधों के उल्लंघन की सजा तो आप से आप मिल जाती है

लेकिन वैवाहिक निषेधों के उल्लंघन का दण्ड अत्यन्त कठोर होता है।—दूसरे शब्दों में टोटेम का प्रतिबन्ध प्राकृतिक है और विवाह का प्रतिबन्ध सामाजिक। इसका एक और प्रमाण यह है कि विवाह का प्रतिबन्ध किसी एक टोटेम के अन्दर ही सीमित नहीं है बल्कि इसके नियम और विशद हैं। सारे समाज में वैवाहिक दल हैं जिन्हें फ्रात्र (भ्रात्र) कहते हैं। केवल टोटेम के अन्तर्गत सदस्यों में नहीं बल्कि फ्रात्र-अन्तर्गत सदस्यों में भी विवाह नहीं हो सकता है। एक फ्रात्र के सदस्यों का विवाह किसी दूसरे फ्रात्र के सदस्यों से ही सम्भव है लेकिन इस पर भी कुछ प्रतिबन्ध हैं। नृ-विज्ञान-विशारदों का कहना है कि इसके पीछे अवैध प्रणय की एक आदिम भीति है। यह भय भाई-बहन या माँ-बेटा या बाप-बेटी के अवैध सम्बन्ध तक ही सीमित नहीं है बल्कि टोटेम के सम्पूर्ण समुदाय के लिए ही यह भय व्याप्त है। ऐसा समझा जाता है कि सामूहिक विवाह प्रणाली का ही, जिसके अनुसार पुरुषों के एक दल का व्याह नारियों के एक दल से हुआ करता था, यह एक परिणामस्वरूप है। बहरहाल टोटेम और बहिर्विवाह का एक साथ देखा जाना एक संयोग मात्र है अथवा दोनों के बीच कोई आंतरिक सम्बन्ध है, यह अभी तक एक विवादग्रस्त प्रश्न बना हुआ है।

टोटेम प्रणाली का अवशेष आस्ट्रेलिया के अतिरिक्त पोलिनेशिया, मेलानेशिया, उत्तर अमेरिका तथा अफ्रीका के कुछ आदिम निवासियों में भी पाया जाता है। कुछ लोगों का विचार है कि किसी समय समस्त आदिम जातियों में ही

यह प्रथा प्रचलित थी और समय के साथ कहीं यह प्रथा परिवर्तित हुई, कहीं विकसित हुई और कहीं इसका लोप हो गया, परन्तु जहाँ इसका लोप भी हो गया वहाँ भी शायद लुप्त प्रणाली के कुछ चिह्न अवशिष्ट हैं। उदाहरण के लिए टोटेम प्रणाली के विशेष अंग का अवलोकन किया जा सकता है। टोटेम-कवीला के लिए अपना टोटेम (पशु, पक्षी, पेड़ या वर्षा आदि) पूत अवश्य होता है परन्तु विशेष अनुष्ठानों पर टोटेम का वध (या वलिदान) किया जाता है। वलि सामुदायिक होता है (अर्थात् पाप का भागी समुदाय का प्रत्येक व्यक्ति होता है) और वलि किये गये पशु के माँस का भक्षण कवीले का प्रत्येक सदस्य करता है। साथ ही वलि की अन्त्येष्टि क्रिया अनुष्ठानिक ढंग से समारोह के साथ की जाती है। इस अनुष्ठान में यह भावना समाहित है कि वलि माँस का भक्षण करने वाला वलि के पूत पशु से एकात्म हो जाता है। देवता के उद्देश्य से वलिदान इसी प्रथा का एक विस्तार है। जिस पशु का वलिदान किया जाता है वह देवता का प्रिय भी होता है। इस प्रकार देवता, पशु और वलिदाता तथा वलि माँस भक्षण करने वाले सभी एकात्म हो जाते हैं। भारत में ही देवताओं के वाहन के रूप में कई पशु पक्षी पूत हैं। कई आदिम जातियों में पशु-पक्षियों की पूजा आज भी प्रचलित है। नागपूजा तो और भी व्यापक है। साँप को मारने के वाद उसका दाह-संस्कार आज भी अनेक करते हैं। इस प्रकार टोटेम प्रणाली को धार्मिक अनुष्ठानों के एक सूक्ष्म वीज के रूप में भी देखा जा सकता है।

परिवार

बहुतेरे लोगों की यह धारणा है कि परिवार सभ्य जगत की ही विशेषता है, विशेष रूप से एक विवाह से उत्पन्न परिवार। उनका ख्याल है कि आदिम दुनिया में परिवार जैसी कोई संस्था नहीं थी, आदिम मनुष्य जब जैसे चाहे स्त्रियों को भोग करता था और पुरुष और स्त्री के मिलन से पैदा हुए बच्चों की फिक्र मनुष्यों को नहीं होती थी। परन्तु मानव शास्त्रियों की खोजों ने इस धारणा को बिलकुल पलट दिया है। यह विश्वास अब गलत साबित हो चुका है कि एक विवाह सामाजिक प्रगति की अन्तिम परिणति है। वास्तविकता यह है कि एक विवाह का रिवाज मानव जाति की सृष्टि के प्रायः प्रारम्भ से ही चला आ रहा है। यह खयाल भी सही नहीं है कि बिलकुल प्रारम्भ में मनुष्य एक ही विवाह करता था परन्तु संस्कृति की सामान्य प्रगति के बाद से ही वह पथभ्रष्ट हो गया और केवल आधुनिक काल में ही एक विवाह प्रथा का पुनरावर्तन हुआ। इस धारणा के अनुसार बहुपति या बहुपत्नी और सामूहिक विवाह प्रथा के प्रयोगों के बाद उन्नत मानव ने एक पत्नी प्रथा को अपनाया। वास्तविकता इससे भिन्न है।

कई कारणों से विवाह और परिवार का सम्बन्ध कुछ जटिल प्रतीत होता है। भारत के मालाबार तट के निवासी नैयर इसके एक उदाहरणस्वरूप हैं। बहुत पहले के जमाने

में नैयर जाति में विवाह नाममात्र के लिए होता था। व्यावहारिक रूप से नैयर औरतें चाहे जितने पुरुषों के साथ वैवाहिक जीवन विता सकती थीं। संतान औरतों की वंशज होती थी और पारिवारिक अधिकार या जमीन की मिलकियत औरत के भाई की हुआ करती थी। परन्तु ध्यान में रखने की वात यह है कि नैयर सैनिक पेशा वाले होते थे, पारिवारिक जीवन व्यतीत करने का मौका ही उन्हें कम मिलता था। दूसरी वात यह है कि नैयर जाति भी आदिम जाति नहीं है। समाज का कुछ विकास हो जाने के वाद ही नैयरों में यह प्रथा चल पड़ी।

इसी रूप में भले ही न हो, परन्तु अनुरूप प्रथाएँ अन्य देशों में भी मिलती हैं। अफ्रीका की मसाई और चग्गा जातियों में परिवार सामाजिक इकाई तो है लेकिन जवानों की भरती सेना में होती है और उन्हें शादी नहीं करने दिया जाता। सेना में रहते समय वे किशोरी लड़कियों से सम्वन्ध वना सकते हैं। इस प्रकार विवाहित परिवार और विना विवाह का सम्वन्ध दोनों एक साथ मौजूद हैं। मध्य व्राजील की वोरोरो और भारत तथा आसाम की मुरिया आदिम जातियों में भी इसी प्रकार की प्रथा है। परन्तु देखने की वात यह है कि पारिवारिक प्रथा ही स्वीकृत प्रथा है।

वहुपति और वहुपत्नी समाजों के अस्तित्व से ही जाहिर है कि एक पत्नी प्रथा कोई प्राकृतिक आवश्यकता नहीं है। फिर क्या वात है कि प्राचीन काल से ही और पृथ्वी के अधिकांश स्थानों में एक पत्नी प्रथा प्रचलित है? इसका एक कारण तो

यह है कि समाज में पुरुषों और स्त्रियों की संख्या प्रायः समान है। विशेष कारण न हो तो एक को एकाधिक पति या पत्नी नहीं मिल सकती। समाज में श्रेणीविभाग हो और कोई श्रेणी बहुत शक्तिशाली हो तो वह विवाह की सुविधा उसे मिल जाती है। यह जो कुछ हो, परन्तु किसी भी काल में, समाज के थोड़े से लोग ही यह सुविधा प्राप्त कर सकते हैं। फिर भी सही बात यह है कि बहुपत्नी समाज भी अनेकांश तक एक पत्नीक समाज ही है। बहुपत्नी परिवार को एक पत्नी परिवार के जोड़ के रूप में देखा जा सकता है। अफ्रीका की बान्टू जाति में एकाधिक पत्नी का रिवाज है परन्तु पत्नियाँ अपने बच्चों सहित भिन्न-भिन्न झोंपड़ियों में रहती हैं। साथ ही एक ही पुरुष बारी बारी से कई स्त्रियों का पति बन जाता है।

बहुपति प्रथा में, जैसे कि भारत की टोडा जाति में, एक ही पत्नी में कई भाइयों का साझा होता है। सन्तान का विधिवत पिता वह होता है जिसने एक विशेष अनुष्ठान किया हो। सन्तान जो भी होगी, पिता वही बना रहेगा जब तक कि दूसरा भाई उसी प्रकार के अनुष्ठान से पिता नहीं बन जाता। शिशु अवस्था में ही लड़कियों की हत्या की प्रथा के कारण टोडा जाति में बहुपति रिवाज चल पड़ा। उन्नीसवीं सदी में, ब्रिटिश शासन काल में जब लड़कियों की हत्या पर रोक लगा दी गई तो फिर पुरुषों और स्त्रियों की संख्या प्रायः बराबर हो गई। अब भी बहुपति का रिवाज कायम रहा लेकिन एक पुरुष अब कई विवाह करने लगा। इसी से टोडा

जाति में सामूहिक विवाह की रीति चल पड़ी। नैपाल और तिव्वत में वहुपति के रिवाज का कारण पेशा है। नैपाली और तिव्वती पुरुष, आधी खानावदोशी की हालत में पथ-प्रदर्शक या वोझ ढोने का काम करते हैं। वहुपति प्रथा होने के कारण यह प्रायः निश्चित हो जाता है कि वाकी मर्द घर के वाहर भी हों तो कम से कम एक पति गृहस्थी संभालने के लिए घर पर ही रहेगा।

यदि किसी समाज में वहुपति और वहुपत्नी, दोनों रिवाज मौजूद हों जैसा कि तूपी-कावाहिव जाति में देखा जाता है तो कुछ जटिलता अवश्य पैदा हो जाती है। मध्य व्राजील की इस जाति का सरदार कई औरतों से शादी कर सकता है जो वहनें भी हो सकती हैं या पहले विवाह से माता और कन्याएँ भी हो सकती हैं। वच्चों का पालन, वे चाहे अपने बच्चे हों या सौत के, सव औरतें एक साथ मिल कर करती हैं। ऐसी स्थिति में सरदार का कोई वच्चा उसकी किसी औरत का पोता पोती भी हो सकता है। सरदार अपने छोटे भाइयों को भी खुशी से अपनी स्त्री को उधार देता है। अपने दरवारी अधिकारियों को या अन्य कवीलों के अतिथियों को भी वह अपनी स्त्री दे सकता है।

विवाह प्रथाएँ जैसी भी हों, महत्वपूर्ण वात यह है कि विधिवत और यथेच्छ विवाह में सभी समाजों में एक विभेद रखा गया है। यह भी लक्ष्य करने की वात है कि आदिम जातियों में अविवाहितों को घृणा की दृष्टि से देखा जाता है। आदिम जन जातियों में अविवाहितों के लिए जीना ही कठिन

हो जाता है। इन जातियों के मर्दों और औरतों में श्रम का बटवारा हो जाता है। कोई विवाहित न हो तो औरत के श्रम से उसे वंचित रहना पड़ता है। वास्तविकता यह है कि विवाह में व्यक्तियों की अपेक्षा समूह को ही अधिक दिलचस्पी होती है। यद्यपि विवाह से ही परिवार की सृष्टि होती है परन्तु परिवारों के लिए विवाह परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने का एक साधन मात्र है। न्यूगिनी के बाशिन्दे यही कहते हैं कि विवाह का उद्देश्य औरत प्राप्त करना इतना नहीं है जितना कि श्यालक प्राप्त करना है। यदि इस तथ्य को समझ लिया जाय कि विवाह व्यक्तियों के बीच नहीं बल्कि दलों के बीच होता है तो कई विचित्र रिवाजों का रहस्य-भेद हो जाता है। अब इसका कारण समझा जा सकता है क्योंकि अफ्रीका के कई भागों में विवाह तभी पूरा हुआ समझा जाता है जबकि औरत का कोई बच्चा पैदा होता है जो पितृ-वंश को कायम रखता है। इसी सिद्धान्त के अनुसार, इससे कोई विरोध नहीं उत्पन्न होता यदि पति या पत्नी की मृत्यु होने पर उसके भाई या बहनों से शादी हो जाती है। वह विवाह प्रचलित हो तो पति अपनी पत्नी की बहनों से भी शादी कर सकता है।

वास्तविकता यह है कि मातृभावना, या मर्दों और औरतों के बीच मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध या आपत्य स्नेह से परिवार की व्याख्या नहीं की जा सकती। परिवार की सृष्टि के लिए पहली आवश्यकता यह है कि दो परिवार ऐसे मौजूद हों जिनमें से एक दूसरे को मर्द और औरत दे सके। उनके विवाह से तीसरे परिवार की सृष्टि होती है और यही क्रम आगे

वढ़ता रहता है अर्थात समाज न हो यानी परिवार कई न हों तो कोई भी परिवार कायम नहीं रह सकता। एक मूल संगठन का अस्तित्व मानव जाति की सृष्टि के प्रारम्भ से ही रहा है, यह विश्वास करने का यथेष्ट कारण है। इस सामाजिक संगठन को कायम रखने के लिए पहली आवश्यकता यह है कि भाई-वहन, माता-पुत्र या पिता-पुत्री में शादी न हो। शादी किससे हो और किससे न हो, इस सम्वन्ध में आदिम जातियों ने चतुराई के साथ नियम वनाए। इनका मुख्य उद्देश्य यही रहा है कि परिवार या समाज संकुचित न हो जाय।

विवाह सम्वन्धी विधि निषेधों में पहली वात यह है कि वाप के भाई भी पिता तुल्य समझे जाते हैं, इसलिए चचेरे भाई वहनों में शादी असम्भव है। परन्तु मामा या मौसी के लड़के लड़कियों से शादी की जा सकती है। इसमें कुछ जातियों ने एक संशोधन यह किया है कि एक पीढ़ी छोड़कर विवाह की विधि वनाई है। मुख्य विधि वहिर्विवाह की विधि है। दल 'क' के सदस्यों का विवाह दल 'ख' के सदस्यों के साथ ही हो सकता है। 'ग' दल के सदस्यों का विवाह 'घ' दल के सदस्यों के साथ होता है। हो सकता है कि इस प्रकार एक वेजोड़ दल छूट जाय। उसके सदस्यों का विवाह 'क' दल के सदस्यों के साथ होता है। दूसरा सिद्धान्त मुआविजे का है। किसी दल के भाई वहन की शादी दूसरे दल के भाई वहन से हो तो मुआवजा पूरा हो जाता है। ऐसा न हो तो भेंट आदि से मुआवजा चुकाया जाता है। एक परिवार को दूसरे परिवार में जाकर श्रमदान भी करना पड़ सकता है। विनिमय के

अन्य रूप भी हो सकते हैं। कोई दल पहली पीढ़ी में किसी दूसरे दल की सन्तान लेता है और तीसरे दल को सन्तान देता है। दूसरी पीढ़ी में पहला दल तीसरे दल को सन्तान देता है और दूसरे दल से सन्तान प्राप्त करता है।

अन्तिम वात यह है कि समाज की चिन्ता परिवार को सुरक्षित रखना या वढ़ाना नहीं है। वल्कि परिवारों के अस्तित्व की अनुमति थोड़े समय के लिए ही दी जाती है और वह इस शर्त पर कि परिवार पुनः टुकड़ों में वट जाया करे। अर्थात पुराने परिवार से नये परिवार वनते रहें, यही समाज का उद्देश्य होता है। एक परिवार अन्य परिवारों को आदान प्रदान करता रहता है। समाज को परिवार की स्वीकृति देनी पड़ती है क्योंकि यह प्राकृतिक नियम के अनुसार है परन्तु प्राकृतिक अवस्था से निकल कर सांस्कृतिक अवस्था प्राप्त करने पर ही समाज की सृष्टि होती है। परिवार समाज के बिना कायम नहीं रह सकता परन्तु समाज परिवारों के विभाजन से ही कायम रह सकता है।

सामाजिक दल

मनुष्य केवल परिवार में ही आवद्ध नहीं रहता है। पड़ोसियों से भी उसका कुछ न कुछ सम्वन्ध होता है। वह जानता है कि पड़ोसियों से क्या उम्मीद करनी चाहिए और पड़ोसी उससे क्या उम्मीद कर सकते हैं। इस प्रकार एक समुदाय वन जाता है। समुदाय एक और प्रकार से भी वन सकता है। स्थानीय समूह में ही एक व्यक्ति अपने को कुछ अन्यों से रक्त सम्वन्ध में वँधा हुआ समझ सकता है। अन्य समूहों के कुछ लोगों से भी उसका रक्त सम्वन्ध हो सकता है। जितने व्यक्तियों से उसका रक्त सम्वन्ध होता है, वे सव मिल कर एक गोत्र कहलाते हैं। कुछ व्यक्तियों से उसका वास्तविक रक्त सम्वन्ध होता है जिन्हें हम चाचा, चचेरा भाई आदि कहते हैं। परन्तु कुछ केवल उसी गोत्र के नामधारी हो सकते हैं तथापि उनसे रक्त सम्वन्धियों जैसा ही व्यवहार किया जाता है।

गोत्र की विशेपता यह है कि रक्त सम्वन्ध माता या पिता में से केवल एक से जोड़ा जाता है। मातृवंशीय गोत्र में केवल माता के सम्वन्धी ही निकट के रिश्तेदार समझे जाते हैं, चचा या चचेरे भाई आदि की गिनती रिश्तेदारों में प्रायः नहीं के वरावर की जाती है। दक्षिण भारत के नैयरों में पिता, पत्नी के यहाँ अतिथि के रूप में ही जाता है। वच्चों का परिवार मामा मौसी आदि का परिवार है। परन्तु आपत्य स्नेह

सार्वभौम सिद्धांत है, इसलिए मातृवंशीय गोत्र में भी माता, पिता और बच्चों का पारिवारिक सम्बन्ध बिलकुल मिट नहीं जाता।

परिवार और गोत्र में एक भेद यह है कि परिवार स्वल्पकालीन इकाई है और गोत्र अधिक स्थायी है। परिवार में बच्चे बड़े होते हैं तो अपने स्वतन्त्र परिवार बना लेते हैं, पुराने परिवार का फिर अस्तित्व मिट जाता है। परन्तु वे भी एक गोत्र में बँधे हुए होते हैं, इसलिए परिवार टूटने पर भी गोत्र सम्बन्ध बना रहता है। यही कारण है कि गोत्र सार्वजनिक हित के लिए सेवा करता रहता है क्योंकि यह ऐसी सामाजिक इकाई है जो कुछ व्यक्तियों के निकल जाने पर भी कायम रहती है। जैसे कि फुटबाल टीम, व्यक्तिगत खिलाड़ियों के अलग होने पर भी बनी रहती है।

गोत्रों के सुपुर्द कुछ विशेष काम भी होते हैं। त्रिवांकुर प्रदेश (वर्तमान केरल) में एक विशेष गोत्र के लोग ही राजा हुआ करते थे। होपी इंडियन (अमरीका) के कुछ गोत्रों से पुरोहित बनते हैं। आस्ट्रेलियन जातियों में हर गोत्र किसी न किसी पशु या पौधे का भक्त होता है। उदाहरण के लिए कंगारू गोत्र ऐसे अनुष्ठान करता है जो जाति के निवास क्षेत्र में कंगारू का अस्तित्व कायम रखने के लिए आवश्यक समझे जाते हैं। इसी से टोटेम प्रणाली की उत्पत्ति हुई है। किन्हीं समाजों में दो या इससे अधिक गोत्र किसी 'फ्राट्री' (भ्रातृ) में सम्मिलित होते हैं। 'फ्राट्री' में सम्मिलित गोत्र के लोग जाति के अन्य गोत्रों के मुकाबले अपने को एक दूसरे

के अधिक निकट समझते हैं। जब जाति केवल दो भागों में बटी होती है तो प्रत्येक भाग को मानवशास्त्र की परिभाषा के अनुसार अर्द्धांश कहा जाता है। समाज के प्रारम्भिक स्तरों की भांति ऊँचे स्तरों पर भी गोत्र पाये जाते हैं। इसी प्रकार, विभिन्न सामाजिक और आर्थिक स्तरों पर गोत्रों का अभाव भी पाया जाता है। एसकिमो जाति में कोई गोत्र नहीं है। आधुनिक सभ्य जगत में भी ऐसी जातियाँ हैं जहाँ कोई गोत्र नहीं है।

जो परिवार गोत्रों से सम्बद्ध हैं और जो गोत्रमुक्त नहीं हैं, सभी ऐसी इकाई में सम्मिलित होने के इच्छुक रहते हैं जो स्थानीय दल से बड़ी हो। अधिकांश आदिम जातियों में समाज की यह बड़ी इकाई जनजाति है। जिन समुदायों से जनजाति बनती है वे प्रायः एक ही क्षेत्र में रहते हैं, एक ही भाषा बोलते हैं और प्रायः एक ही प्रकार का जीवन बिताते हैं। लेकिन जनजाति के अस्तित्व की ये मौलिक आवश्यकताएँ नहीं है। परस्पर सद्‌भावना और सहयोग वास्तविक बन्धन हैं; जातीय परिषद की बैठकें हों या वार्षिक सम्मेलन हुआ करे तो एकता और भी बढ़ जाती है। बच्चे, जातियों में रह कर बड़े होते हैं तो जातीय संगठन की विशेषताओं को समझने लगते हैं। जनजाति के अन्य लोगों से अनौपचारिक बरताव कैसे किया जाता है, यह भी वे सीख लेते हैं। इस प्रकार, पीढ़ी दर पीढ़ी जनजाति का अस्तित्व कायम रहता है।

जनजाति की रीति रिवाजों के उदाहरण स्वरूप कनाडा

के मैदानी क्री इंडियनों का उल्लेख किया जा सकता है। क्री इंडियन के आठ समुदाय कोई छ: सौ मील के विस्तार में बसते थे। उनकी कोई जातीय परिषद नहीं थी, न प्रत्येक समुदाय के प्रतिनिधियों का कोई सम्मेलन ही होता था। लेकिन कई समुदाय साल में एक बार सूर्यनृत्य में भाग लेने के लिए इकट्ठे हुआ करते थे। फिर भी इस विषय में किसी को संदेह नहीं होता था कि कौन उस जनजाति का सदस्य था और कौन नहीं था। किसी नौजवान को दुनिया देखने की इच्छा होती तो अन्य क्री समुदायों के यहाँ वह रवाना हो जाता। वह पूरब का रहने वाला होता तो पश्चिम को चल पड़ता और राह चलते अन्य समुदायों के घर ठहरता जाता। चलते चलते वह क्री क्षेत्र की सीमा तक पहुँच जाता जहाँ क्री जाति के शत्रु ब्लैकफुट इंडियन की क्षेत्रीय सीमा आ लगती थी।

अपने समुदाय से बाहर निकल कर वह दूसरे समुदाय में जा पहुँचता तो अपने सम्बन्धियों या सम्बन्धियों के सम्बन्धियों को ढूंढ़ निकालता। कोई न कोई सम्बन्धी उसे अवश्य मिल जाता क्योंकि विभिन्न समुदायों के बीच प्राय: विवाह होते थे। क्री जनजाति में गोत्र प्रथा नहीं थी। इस प्रकार, सामाजिक दृष्टि से वह कभी सम्पूर्ण अपरिचित नहीं होता, चाहे स्वयं उसे उस समुदाय के लोगों ने कभी देखा हो या न देखा हो। उसे उस समुदाय के सदस्य के रूप में पहचाना जा सकता था जिसका परिचय उस व्यक्ति को प्राप्त था या जिसका वह नवयुवक अतिथि बनता था। फिर तो ऐसे

किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में वात छिड़ जाती जिसे अतिथि भी जानता था और अतिथि का स्वागत करने वाला भी जानता था। इस प्रकार दोनों का सामाजिक सम्बन्ध और दृढ़ हो जाता था। कभी ऐसा भी होता कि किसी समुदाय की लड़की उसे पसन्द आ जाती और दोनों में शादी भी हो जाती।

परन्तु दूसरी जनजाति के लोग पहुँच जाते तो उनके प्रति विलकुल भिन्न व्यवहार होता था। दूसरी जनजाति के लोग प्रायः वाणिज्य के उद्देश्य से ही आते। उनकी भी खातिरदारी की जाती लेकिन उस घनिष्ठता का व्यवहार उनसे नहीं होता जैसा कि क्री जनजाति के किसी सदस्य के साथ हो सकता था। क्री क्षेत्र के दक्षिण में आसिनीवोआन जनजाति का निवास था। दोनों जनजातियों में सद्भावना थी फिर भी क्री की तुलना में परिचित आसिनीवोआन भी अपरिचित जैसा ही होता था। अपनी जनजाति में लोग जानते हैं कि एक दूसरे से क्या आशा की जा सकती है परंतु पड़ोसी भिन्न उपजाति के संवंध में भी कुछ अनजानपन की भावना होती है। व्लेकफुट इंडियन कभी व्यापार के लिए क्री क्षेत्र में आते तो उन्हें काफी पहले इसकी सूचना देनी पड़ती और तैयारी पहले हो लेने के वाद ही वे वहाँ जा पाते।

लड़ाई के समय ही खास मौका आता जव कि जनजाति के विभिन्न या सभी समुदाय इकट्ठे हो जाते। किसी का लड़का या लड़की मारी जाती तो वह विभिन्न समुदायों से

वदला लेने का अनुरोध करता और सभी समुदायों के कुछ लोग इकट्ठा होकर शत्रु के इलाके में घुस कर किसी शत्रुदल का उन्मूलन करते और इस प्रकार लड़का-लड़की की मृत्यु का वदला चुकाते। लड़ाई के समय ही पूरी जनजाति इकाई के रूप में काम करती है। जनजाति के लोग अपने को परस्पर सम्वन्धित समझते हैं। इसलिए जाति के किसी एक भाग पर आक्रमण सम्पूर्ण जनजाति के विरुद्ध आक्रमण समझा जाता है और उसकी तुरन्त प्रतिक्रिया होती है। वास्तव में जनजाति के लोग अपने को ही सभ्य समझते हैं और उस जाति के वाहर के सभी लोगों को नीचा या पशुतुल्य समझते हैं। जनजाति के सदस्यों के प्रति नम्र व्यवहार होता है और अन्यों के प्रति निर्दय व्यवहार करने में उन्हें हिचक नहीं होती। आज के सभ्य समाज में भी इस मनोवृत्ति का परिचय मिलता है।

युद्ध करने की तुलना में शांति स्थापित करना अधिक कठिन होता है। सरदार ने चिलम सुलगा कर शांति की घोषणा की परंतु हो सकता है कि उसी समय किसी एक समुदाय के लोग शत्रु पर टूट पड़े। भिन्न समुदायों के सदस्यों पर रोक लगाने के साधनों का प्रायः अभाव होता है। यह रोक लगाना तव सम्भव होता है जव कि जनजातियों के ऊपर भी राष्ट्र का वन्धन या लगाम हो। राष्ट्र तव वनता है जव कि समुदायों का संगठन इस प्रकार हो कि कुछ लोगों को सारे समुदायों की ओर से कुछ करने का और अन्यों को कुछ करने से निषेध करने का अधिकार प्राप्त हो। ये काम कौन

करेंगे, इस सम्बन्ध में सभी समुदाय एकमत होते हैं। काम किस प्रकार किया जायगा इस विषय में भी सहमति होती है। प्रायः यह सहमति स्वेच्छिक नहीं होती। एक जनजाति ने दूसरी जनजाति पर विजय प्राप्त कर ली तो विजितों को विजेता की वात माननी पड़ती है। राष्ट्र की उत्पत्ति भी प्रायः इसी प्रकार होती है।

अनेक जनजातियों में राष्ट्र की शुरुआत दिखाई पड़ती है। क्री जाति में प्रत्येक समुदाय में योद्धाओं का एक एक दल होता है। परन्तु इन दलों का कर्त्तव्य युद्ध करना नहीं वल्कि भैंसे के शिकार को नियन्त्रित करना होता है। जनजाति के लोग वड़ी संख्या में कहीं एकत्रित हों तो व्यक्तिगत रूप से किसी को शिकार नहीं करने दिया जाता। ऐसा करने दिया जाय तो भैंसे तुरन्त तितर वितर हो जायें और एकत्रित लोगों को डेरा उठाना पड़ जाय। इसलिए ज्योंही भैंसा दिखाई पड़ जाता तो योद्धा दल पहरेदारी करने लग जाता है कि शिकार की पूरी तैयारी हो लेने के पहले कोई भैंसे से छेड़खानी न करे। तैयारी हो लेने पर संकेत दिया जाता है और पूरा कवीला शिकार में जुट जाता है। इस नियम का उल्लंघन कर कोई शिकार करने की चेष्टा करता है या उसका घोड़ा भड़क कर भैंसों को तितर-वितर कर देता है तो योद्धा दल उसके डेरे को तोड़ डालते हैं, उसकी वन्दूक छीन लेते हैं और उसकी सारी सम्पत्ति वरवाद कर डालते हैं। साधारण रूप से कभी ऐसा हो तो उसके सम्वन्धी उसकी मदद करने के लिए जुट जाते हैं। लेकिन ऐसे अवसर पर कोई उसकी

मदद करने को नहीं जाता है। हो सकता है कि उसका सगा भाई ही योद्धा दल का सदस्य हो। इस शेत्र में भाई भाई के स्वार्थ को वड़ा न मान कर सम्पूर्ण जनजाति के हित को ही वड़ा मानता है। किसी की हत्या होने पर जब उसके रिश्तेदार, वदला चुकाने के लिए लोगों को इकट्ठा करते हों तो हो सकता है कि निहित व्यक्ति के परिवार का ही कोई, जो योद्धा दल का सदस्य हो, वदला लेने की तैयारी में शामिल न होकर समझौते के द्वारा विवाद मिटाने की चेष्टा करे। इस क्षेत्र में भी रिश्तेदारी के कर्त्तव्य के मुकावले सम्पूर्ण जनजाति का हित ही योद्धा दल का ध्येय है।

ऐसे भी मौके आये जव कि कई जनजाति के लोग एक ही दुश्मन का मुकावला करने के लिए संघवद्ध हो गये। ऐसे अवसर पर परस्पर सहायता के लिए नियम वना लिए जाते और नेता चुन लिए जाते जो पूरे संघ के हित को ध्यान में रख कर काम करते। इस प्रकार, वर्तमान न्यूयार्क के पास एक समय में इरोकोआ संघ वना था। राष्ट्र निर्माण की दिशा में संघ की प्रगति का यह एक उदाहरण स्वरूप है। परन्तु दुश्मन हार जाता है तो संघ को वनाये रखना कठिन हो जाता है। फिर प्रत्येक जनजाति के लिए स्वार्थ ही सर्वोपरि होता है।

हैसियत

आदिम समाज में बच्चा पैदा होते ही उसे कोई निर्धारित हैसियत नहीं मिल जाती है। मनुष्य एक प्राणी विशेष है, उसे हैसियत दी जाती है, फिर वह सामाजिक जीव बनता है। मृत्यु होने पर वह फिर केवल प्राणी रह जाता है। समूह की हैसियत बराबर बनी रहती है। व्यक्ति के जन्म पर समूह उसे सामयिक रूप से स्वीकार करता है और मृत्यु होने पर उसका प्रत्याखान करता है। मृत्यु होने पर बँधी हुई धारा टूट जाती है और उस समय अधिकार पुनः समूह के हाथों चला जाता है। अब हैसियत प्रदान करने का काम समूह स्वयं करता है।

हैसियत एक प्रकार का प्रशासकीय स्थान है जैसा कि रिश्तेदारों को प्राप्त है। यह स्थान सदा बना रहता है और लोग उन स्थानों में रखे जाते हैं। समूह द्वारा जब हैसियत दी जाती है तो उस स्थान की पूर्ति हो जाती है। स्थानपूर्ति का पहला सोपान है नामकरण। आदिम समाज में नामकरण एक जटिल प्रक्रिया है। इस नाम का कुछ मूल्य होता है। यदि नाम संदिग्ध रह जाय तो उस व्यक्ति की हैसियत भी सन्देहजनक हो जाती है। एक उदाहरण ले लीजिए। मालूगोत्रा के एक विवागो (उत्तर अमेरिका) पिता के पास अपने नवजात शिशु के नामकरण सम्बन्धी अनुष्ठानों को सम्पन्न करने के लिए पर्याप्त धन नहीं था। उसकी पत्नी के घरवालों ने उसे समझा-बुझाकर राजी किया कि अनुष्ठान का खर्च वे उठायेंगे और

लड़के को माता के कुल का नाम मिलेगा। अब लड़का एक गोत्र का था और नाम उसे एक दूसरे गोत्र का मिला। इससे समुदाय के अन्दर उसकी हैसियत दुविधाजनक हो गई।

नामकरण होने पर भी बच्चे की हैसियत नाममात्र की होती है। अभी पूरे अधिकार उसे प्राप्त नहीं हुए हैं। यही कारण है कि आदिम समाज में शिशु हत्या का रिवाज पाया जाता है। आर्थिक संकट के समय कोई शिशु हत्या करे तो उसे दोषी नहीं ठहराया जाता। पूर्ण अधिकार यौवन प्राप्ति के अनुष्ठान सम्पन्न होने पर ही प्राप्त होता है। सामाजिक दृष्टि से तभी वह पूर्ण कर्ता होता है और अपने किये कामों के लिए वह जिम्मेदार होता है। सभी आदिम समूहों में अधेड़ उम्र का आदमी ही आदर्श पुरुष होता है। वह किसी काम में जल्दबाजी नहीं करता। अपनी जबान पर उसे काबू होता है और जबान वह तभी खोलता है जब कि तज्जनित परिणामों पर अमल करने को भी वह तैयार होता है। जब वह बूढ़ा होने लगता है तो उसकी हैसियत फिर गिरने लगती है। बूढ़ा वह तभी समझा जाता है कि जब कि बिना सहारे के वह आजीविका प्राप्त नहीं कर सकता है। लेकिन पूरा बल इसी पर नहीं है कि वह समाज के लिए भारस्वरूप है। वह सक्रिय जीवन से हट जाता है, इसी से उसकी हैसियत गिर जाती है। लेकिन दूसरे प्रकार से समाज में उसका एक ऊँचा स्थान है। वह एक अनुभवी सलाहकार होता है। सामूहिक परम्परा का वह एक व्याख्याकार है। वह बताता है कि ठीक ढंग से जीवन कैसे चलाना चाहिए। फिर भी हैसियत तो

उसकी गिर ही जाती है और ऐसी स्थिति में उसकी हत्या पर भी दोष नहीं लगता। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि बूढ़ों की हत्या कर दी जाती है। हाँ, किसी सक्रिय व्यक्ति की हत्या की ही नहीं जा सकती। उसके मुकावले बूढ़े का अन्त करने की माँग-ज्यादा आसानी से की जा सकती है। परन्तु मृत्यु होने पर तो हैसियत खत्म ही हो जाती है। उसकी हैसियत उसके उत्तराधिकारी को भी आप से आप नहीं मिल जाती।

हैसियत का श्रेणीकरण वहाँ पाया जाता है जहाँ समाज में वर्ग विभाजन मिलता है। दो उदाहरण ले लीजिए। मिसीसिपी नदी की घाटी में नात्शे जनजाति के दो वर्ग हैं। सूर्यगोत्र में तीन श्रेणियाँ हैं :—सूर्यवंशी, 'महान' और 'सम्मानित'। परन्तु नात्शे समाज का संगठन द्विजातीय होने के कारण उच्चगोत्र वालों को निम्नवर्ग में ही शादियां करनी पड़ती हैं। साथ ही नात्शे समाज मातृप्रधान होने के कारण कुछ अजीव परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है। दोनों वर्गों में विवाह से जो सन्तान उत्पन्न होती है वह सूर्यगोत्र ही कहलाती है परन्तु पुत्र के अपने जीवनकाल तक। उनके जो वच्चे पैदा होते हैं वे 'महान' श्रेणी के होते हैं। महानों के पुत्र 'सम्मानित' होते हैं। सम्मानित श्रेणी के लोग युद्ध आदि में साहस के प्रदर्शन के द्वारा महानों की श्रेणी को पहुँच सकते हैं, लेकिन उनके वच्चे निम्न श्रेणी के कहलायेंगे। स्त्रीजातीय सूर्यगोत्र का वंशानुक्रम भी इसी प्रकार होता है अर्थात् धीरे-धीरे उनकी सन्तान की हैसियत घटती जाती है। यहाँ दो स्वतन्त्र समूहों का सम्मेलन हुआ है जिनमें आंशिक रूप से आदान प्रदान होता है और

उनमें से एक दूसरे के मुकावले श्रेष्ठ समझा जाता है। गोत्र का विकास यहाँ जातपांत के रूप में हुआ है।

पश्चिम अफ्रीका की कूपेल जाति में सामाजिक वर्गीकरण वहुत स्पष्ट है। उनमें तीन वर्ग हैं—पूर्णाधिकार प्राप्त नागरिक, अधीन जाति और दास। कूपेल ही पूर्ण नागरिक हैं जो महत्वपूर्ण पदों को प्राप्त करते हैं और अपने राजा को चुनते हैं। पूर्ण नागरिक वह है जिसका पिता या माता पूर्ण नागरिक रहा हो। लेकिन उसे भी हैसियत तव प्राप्त होती है जव उसका यौवन संस्कार सम्पन्न हो जाय। उसकी हैसियत उसका सह-नागरिक या राजा छीन नहीं सकता। लेकिन गोत्र का मुखिया उसे वन्धक की स्थिति में रख सकता है।

अधीन जातियों में कई प्रकार के लोग हैं। उनमें एक तो उन दासों के वच्चे होते हैं जो खरीदे गये हैं। ये वच्चे मालिक के मकान में ही पैदा हुए होते हैं। दूसरे हैं वन्दी जिनके जाति वालों ने उन्हें निर्धारित समय के अन्दर जुर्माना अदाकर छुड़ाया नहीं है। कुछ वे हैं जिन्हें कर्ज के कारण यह हैसियत प्राप्त हुई है। इनमें विदेशी शरणार्थी भी शामिल हैं जो अपने देश छोड़ कर भाग आये हैं। सिद्धान्त रूप में अधीनस्थ जाति का कोई स्वतन्त्र नहीं हो सकता, न वह पैसे देकर मुक्त हो सकता है लेकिन उसका मालिक उसे भेंटस्वरूप मुक्ति प्रदान कर सकता है।

दास श्रेणी में दो प्रकार के लोग हैं। एक तो वन्दी जिनके कवीलों ने उन्हें छुड़ाया नहीं और कुछ उसी जाति के लोग जो संगीन जुर्मों के अपराधी होने के कारण अपनी हैसियत खो

बैठे हैं। दास और अधीनस्थ श्रेणी के जीवन प्रायः एक ही प्रकार के हैं। दास कुछ अच्छे हैं क्योंकि पैसे देकर वे आजादी खरीद भी सकते हैं। जब कि अधीनस्थ जाति को स्वतन्त्रता भेंट के रूप में ही मिल सकती है। सिद्धान्त रूप में दोनों की उपज मालिक की होती है लेकिन उन्हें अपने लिये भी जमीन दी जाती है और श्रमिक के रूप में उन्हें अन्य श्रमिकों के मुकाबले तिहाई मजदूरी मिलती है।

यह वास्तव में एक श्रेणी पर दूसरी श्रेणी का आधिपत्य नहीं है। केवल समाज का प्रबन्ध कुछ शिथिल है जिसमें कुछ लोगों की हैसियत घट जाती है या लुप्त हो जाती है। हर एक ही अंशतः या पूर्णतः हैसियत खो सकता है और अधिकांश खोई हुई हैसियत पुनः प्राप्त भी कर सकते हैं। बात यह है कि जहाँ गोत्र प्रथा है वहाँ श्रेणीभेद कठोर नहीं हो सकता। अलावा इसके, हैसियत हो या न हो, जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति से कोई वञ्चित किया ही नहीं जा सकता।

हिन्दू समाज की भाँति जातिभेद की प्रथा धार्मिक या जादू सम्बन्धी धारणाओं से उत्पन्न हुई है। माइक्रोनेसिया या पोलीनीसिया में श्रेष्ठ शुद्ध श्रेणी या पुरोहित वर्ग सरदारों के वर्ग से बिल्कुल पृथक रहता है। समझा यह जाता है कि दोनों का आमना-सामना हो तो एक दूसरे को मुरझा देगा। तीसरा वर्ग मेहनत पेशा है, विशेष रूप से वह खेत जोतता-बोता है। ख्याल यह किया जाता है कि मेहनत पेशा वाला सरदारों का जूठन खा ले तो वह मर जायेगा। लक्ष्य करने की बात यह है

कि यहां निम्न वर्ग के स्पर्श से उच्चवर्ग को हानि नहीं पहुँचती है वल्कि इसका उल्टा ही सत्य है। फिर भी एक वर्ग दूसरे का सम्पूर्ण अधीन नहीं है। हर एक देश के नियम या रिवाजों से बंधा हुआ है।

आदिम जातियों के रीति-रिवाज और जादू

आदिम जातियों ने थोड़े से अनुभव से ही यह लक्ष्य कर लिया होगा कि अनाज एक ऋतु में उगते हैं और दूसरे ऋतु में खेत शस्यहीन हो जाते हैं। उनकी यह धारणा थी कि प्रकृति देवी प्रसन्न होती है तो खेत शस्यों से हरे-भरे हो जाते हैं और रुष्ट होती है तो अनाज सूख जाते हैं। ईसा पूर्व ७०० वर्ष के लगभग लिखी गयी प्रसिद्ध यूनानी कवि होमर की एक कविता में इसका सुन्दर चित्र हमें मिलता है। देवी दीमितर की पुत्री परसीफोन को पाताल देवता प्लूटो हरण कर ले गया। देवी ने क्रुद्ध होकर अनाज उगाना वन्द कर दिया। देवताओं को भी यज्ञों में अनाज़ के अंशों की प्राप्ति नहीं हुई। देवादिदेव जिऊस ने प्लूटो को आदेश दिया कि परसीफोन को उसकी माता को लौटा दे। परन्तु प्लूटो ने परसीफोन को अनारदाना खिला दिया ताकि वह वर्ष में आधा समय पाताल में अपने पति के साथ विताने को वाध्य हो और आधा वर्ष वह पृथ्वी पर अन्य देवताओं के वीच विचरण करे।

इस प्रसंग से स्पष्ट है कि दीमितर पुराने अनाज का वीज है और परसीफोन नवजात शस्य है। आधे साल तक जमीन हरी-भरी रहती है और आधे साल तक, जव कि परसीफोन पाताल में प्रवेश करती है, जमीन खाली पड़ी रहती है। यह कविता तो ढाई हजार वर्ष पहले की है परन्तु यह धारणा वहुत पुरानी है जैसा सीरिया के 'एफ्रोडाइट और एडोनिस' और

मिस्र के 'इसिस ओसिरिस' की कहानियों से पता चलता है कि आदिम मानव प्रकृति को मानव रूप में ही देखता था और उसमें मानवीय गुणों का आरोप करता था। वे समझते थे कि जैसे पुरुष और नारी के संयोग और भोग से सन्तानोत्पत्ति होती है, उसी प्रकार वनस्पति और वनदेवियों के संयोग और भोग से शस्योत्पादन होता है। उनका यह विश्वास था कि फूल-पत्तियों से ढक कर पुरुष और नारी सम्भोग करेंगे तो खेत भी पौधों से लहलहाते रहेंगे। यूरोप में आज भी मई के महीने में मई के राजा और मई की रानी के जो विवाहोत्सव हुआ करते हैं वे उस आदिम धारणा के प्रतीक मात्र हैं। पहला बीज बोते समय प्रत्येक पुरुष और नारी में यौन क्रिया की एक अनन्य विधि मध्य अमरीका में थी। जावा द्वीप के कुछ भागों में अब भी जब धान के पौधों पर दाने निकलने को होते हैं तो पति पत्नी रात को खेत में जाकर सम्भोग करते हैं ताकि खेतों में प्रचुर अनाज पैदा हो।

प्रकृति पर मानव भावनाओं के आरोप के सम्बन्ध में श्री स्वाण्टन ने लिखा है कि उत्तर अमरीका के त्लिगित इंडियन सूर्य, चन्द्र, वायु, पर्वत, जलाशय आदि को प्रभावित करने के लिए मनुष्यों की भांति उन्हें सम्बोधित करते हैं और उनसे सौभाग्य प्रदान करने की प्रार्थना करते हैं। आस्ट्रेलिया के बुशमेन वर्षा में भी पुरुष और नारी का विभेद करते हैं—जोर की वर्षा पुरुष वर्षा है और धीमी वर्षा नारी वर्षा है। इसलिए उनका विश्वास है कि मनुष्य की तरह ही उनसे आचरण करना चाहिए। मनुष्य की तरह ही उन्हें क्रोधित किया जा

सकता है, शान्त किया जा सकता है, भयभीत किया जा सकता है और प्रलुब्ध किया जा सकता है। चिली के इतिहासकार मोलिना ने उस देश के आदिवासियों के सम्बन्ध में लिखा है कि समुद्र या एण्डीज के पहाड़ों में तूफान या आंधी आती है तो वे समझते हैं कि स्पेन वालों की आत्मा और उनके अपने साथियों की आत्मा के वीच लड़ाई हो रही है (स्पेन वालों ने उन आदिवासियों को पराजित कर चिली पर अपना आधिपत्य जमा लिया था)। वे कहते हैं कि हवा की सनसनाहट घोड़ों की टापों की आवाज है, विजली की कड़क उनके नक्कारों की आवाज है और विजली की चमक तोप की आग है।

प्राकृतिक शक्तियों पर मनुष्योचित गुणों के आरोप के कारण, वे यह भी समझते थे कि उन्हें भेंट चढ़ा कर तुष्ट किया जा सकता है और डरा धमका कर भी उनसे काम लिया जा सकता है। प्रकृति के प्रति इन प्रयोगों को एक जादू कहा जा सकता है। आदिम कल्पना के अनुसार जादू के द्वारा वैद्य की चिकित्सा से ही रोगी आरोग्य लाभ कर सकता है। आज भी फ्रांस में पर्च के किसानों की यह धारणा है कि अधिक कय (वमन) होने का कारण जिगर और अंतड़ियों का नीचे उतर आना है। अतएव किसी वैद्य को अंतड़ियों को स्वस्थान में प्रत्यावर्तित करने को बुलाया जाता है और वह अत्यन्त पीड़ा का प्रदर्शन करते हुए ऐसा अंग-संचालन करता है मानो उस की अंतड़ियां नीचे उतर आयी हों। पुनः वह पीड़ा जनक अंग संचालन करते हुए अपनी अंतड़ियों को ठीक जगह वैठा देता है और कहा जाता है कि रोगी को भी इससे आराम मिल जाता

है। इसी प्रकार डायाक द्वीप में किसी रोगी के लिए ओझा बुलाया जाता है तो वह ऐसा भान करता है कि मानो उसकी मृत्यु हो गयी है और उसे दूसरे ओझा लोग उठा कर ले जाते हैं। थोड़ी देर बाद ही वह ओझा उठ खड़ा होता है और जब वह रोगी के घर पुनः पहुँचता है तो समझा जाता है कि वह रोगी भी अच्छा हो गया है। आहार सामग्री प्राप्त करने के लिए ही जादू का अधिकांश रूप से प्रयोग किया जाता है। ब्रिटिश कोलम्बिया का इंडियन सम्प्रदाय आसपास की नदियों तथा समुद्र की मछलियों पर ही अपनी जीविका के लिए मुख्यतः निर्भर रहता है। जब मछलियाँ समय पर नहीं आतीं और वे भूखे रह जाते हैं तो कोई नूटका ओझा तैरती मछली की एक प्रतिमूर्ति बनाकर नदी में उस दिशा से उसे छोड़ देता है जिस दिशा से वे साधारणतया आती हैं। इस प्रक्रिया के साथ मछली की प्रार्थना की जाती है ताकि वे आने लगें। आदिम जातियों में जादू के इस महत्व के कारण आदिम समाज में जादूगर को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता था और उनके मुखिया प्रायः जादूगर ही होते थे।

नील नदी के ऊपरी भाग के कबीलों में ओझा ही प्रायः मुखिया भी हुआ करते हैं। वर्षा बुलाने की शक्ति पर ही उनकी क्षमता आधारित है। ये मुखिया ऊँचे पहाड़ों की ढाल पर ही अपने गाँव बनाते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि वहाँ वर्षा की प्रचुरता होती है। ये वर्षा बुलाने वाले प्रायः अपने पास रंगीन पत्थर रखा करते हैं। वर्षा बुलानी होती है तो मुखिया इन पत्थरों को पानी में डाल देता है और आसमान की ओर

छड़ी घुमाकर वादलों को इशारा करता है। लेकिन उन मुखियों को अपनी जान का भी खतरा रहता है, क्योंकि सूखा पड़ने पर लोग समझते हैं कि मुखिया ने ही पानी रोक रखा है और उस पर वे आक्रमण कर बैठते हैं।

चिली निवासियों के सम्बन्ध में ऊपर आत्मा का उल्लेख आया है। इस आत्मा के सम्बन्ध में उनकी कुछ विचित्र धारणायें थीं। पुनर्जन्म के सिद्धान्त का उन्हें कोई ज्ञान हो या न हो, वे समझते थे कि आत्मा एक देह से निकल कर दूसरे देह में प्रवेश किया करती है। उनका विश्वास था कि श्वास-प्रश्वास के साथ भी मनुष्य की आत्मा वाहर निकल जाया करती है। इसलिए वे रात को पानी के घड़े पर ढक्कन चढ़ा देते थे, ताकि आत्मा कहीं किसी के शरीर से निकल कर पानी पीने के लिए घड़े में प्रवेश करने के वाद, खुले घड़े पर रात को किसी समय ढक्कन चढ़ाये जाने के कारण, वहीं वन्द न रह जाय और जिसकी देह से आत्मा निकल कर गयी उसकी मृत्यु न हो जाय। इसी प्रकार जम्हाई लेने पर मुँह के सामने वे अँगुली चटकाते थे कि कहीं खुले मुँह से आत्मा वाहर न निकल जाय। ये दोनों प्रथाएँ आज भी वंगाल में कहीं-कहीं पायी जाती हैं। जादू की उनकी धारणाओं के अनुसार राजा वही होता था जो जादू विद्या में पारदर्शी था और अपनी शक्ति से मिट्टी को उपजाऊ वनाता था और अन्य प्रकार से अपनी प्रजाओं को लाभ पहुँचाता था। उस आदिम काल में राजाओं की भी देवताओं जैसी ही पूजा होती थी, परन्तु जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, देवताओं के सम्बन्ध में भी आदिम

जातियों की विचित्र धारणायें थीं। देवताओं को रिझाने की जैसी चेष्टा होती थी, वैसी ही उन्हें दबाने की भी। राजाओं के सम्बन्ध में भी उनका बहुत कुछ ऐसा ही ख्याल था। उनको चिन्ता थी कि राजा कहीं अस्वस्थ हो जाये तो खेतों में अनाज के दाने भी सठिया जायेंगे और कहीं वृद्ध अवस्था में उसकी मृत्यु हो जाय तो सारी खेती ही चौपट हो जायेगी। इस धारणा के अनुसार न केवल राजाओं पर असंख्य नियन्त्रण रखे जाते थे बल्कि स्वस्थावस्था में ही उनकी हत्या की जाती थी ताकि उस राजा की आत्मा किसी स्वस्थ शरीर में प्रवेश कर सके और शस्योत्पादन भी भली भाँति होता रहे और साथ ही जन-समूह का कोई अमंगल न हो।

शरीर के बाहर आत्मा के अस्तित्व का एक और उदाहरण उन उपकथाओं में मिलता है जिनमें किसी मायावी रूपसी या राक्षसी की आत्मा तालाब के नीचे किसी डिबिया में या पेड़ के नीचे जड़ में छिपी रहती थी और डिबिया खोलने पर या पेड़ काटे जाने पर उस रूपसी या राक्षसी की मृत्यु हो जाया करती थी।

आदिम जातियों के विधि-निषेधों की प्रथा भी काफी दिलचस्प है। इनका सम्बन्ध भी जादू से है। आदिम जातियों को जादू से जितना भय था उतना और किसी चीज से नहीं और आज भी जहाँ वे हैं, यही संशय करते हैं कि अपरिचित लोग जादू-टोना किया करते हैं। कोई अपरिचित व्यक्ति जब किसी कबीले के अन्दर प्रवेश करता है तो पहले उसकी शुद्धि की जाती है। इस शुद्धि की भिन्न-भिन्न प्रक्रियाएँ होती हैं।

कहीं-कहीं उन्हें मन्दिरों का दर्शन कराया जाता है और वोर्नियो द्वीप में भैंस की वलि के लिए उनसे पैसे लिये जाते हैं। मदागास्कर द्वीप की जाफिमानेलो उपजाति वन्द दरवाजे के अन्दर खाती-पीती है, इसलिए कि मुँह खोल कर खाते समय आत्मा कहीं शरीर से निकल कर भाग न जाय।

वरूआ खाते-पीते समय किसी को देखने न देगा और नारियों को तो सामने रहने की विलकुल ही अनुमति नहीं दी जाती है। जव साधारण लोगों में यह निषेध प्रचलित है तो राजाओं के लिए तो निषेधों का और भी कठोर होना स्वाभाविक ही है। लोआंगों के राजा को कोई खाते-पीते समय देख नहीं सकता। एक वार कुत्ता खाने के कमरे में घुस पड़ा तो उसको वहीं खत्म कर दिया गया। एक वार राजा के ही वारह वर्षीय लड़के ने उसे पीते देख लिया। राजा के आदेश से उसे तत्काल अच्छे कपड़े पहना कर काफी खिलाया-पिलाया गया और भोजन समाप्त होने के वाद उसके चार टुकड़े कर शहर में इस मुनादी के साथ घुमाया गया कि उसने राजा को पीते हुए देख लिया था। विश्वास यह किया जाता है कि राजा को कोई खाते-पीते देख ले तो राजा की मृत्यु अवश्यम्भावी है। इसी प्रथा का विस्तार यह है कि राजा को महल छोड़ने की भी अनुमति नहीं दी जाती। खाद्यावशिष्ट पर भी जादू-टोने का भय रहता है। न्यूगिनी के आदिम निवासी या तो खाद्यावशिष्ट को विनष्ट कर डालते हैं या उसे छिपा लेते हैं, ताकि उनके शत्रु उस उच्छिष्ट भोजन पर जादू-टोना कर उनका अहित न कर सकें।

जापान के मिकाडो और फीजी के सरदार तथा पूर्वी अफ्रीका के नूव सरदारों के सम्वन्ध में भी इस प्रकार की वातें लागू हैं। जापान के मिकाडो को नित्य नये वर्तनों में खाना दिया जाता था और भोजन के वाद उन्हें नष्ट कर डाला जाता था। यही कारण है कि मिट्टी के वर्तनों में ही उन्हें खाना परोसा जाता था। उन्हें नित्य नये कपड़े भी पहनाये जाते थे। निपेधों के अन्य अनेक प्रकार हैं। रजस्वला नारियों को अशौच मानने की प्रथा तो आज भी चली आ रही है, मृत्यु जनित अशौच की प्रथा भी अति प्राचीन है। विश्वास यह किया जाता था कि मृतकों के संस्पर्श में आने वाला व्यक्ति अत्यन्त खतरनाक होता है। आस्ट्रेलिया की माओरी जाति में यह प्रथा थी कि शव ले जाने वाले व्यक्तियों को अपने हाथ से खाना भी नहीं खाने दिया जाता था। उनके लिए जमीन पर भोजन डाल दिया जाता था और शववाहक हाथ पीछे डाले किसी प्रकार से उस भोजन को खाया करता था। लोहा मिलने के वाद से, इसे भूत-प्रेत से वचने के लिए एक महत्व-पूर्ण औजार माना जाता था। दरवाजों पर कील गाड़ना इसका एक दृष्टान्त है। अफ्रीका के स्लेव-कोस्ट प्रदेश में सूखा से पीड़ित वच्चों के पैरों में लोहे का कड़ा डाल दिया जाता है और एक कड़ा उसके गर्दन में भी लटका दिया जाता है। अज्ञात वस्तु के सम्वन्ध में एक भय ही इसका कारण जान पड़ता है। निपेधों का प्रयोग, नाम और शब्दों के सम्वन्ध में भी होता था और होता आया है। पति-पत्नियों के परस्पर नाम उच्चारण न करने की प्रथा आज भी हमारे देश में प्रच-

लित है और यह प्रथा आदिम युग से ही चली आ रही है। परन्तु आदिम युग में इस प्रथा का रूप बहुत व्यापक था। राजाओं और सरदारों के भी नाम नहीं लिये जाते थे। मरे हुए के भी नाम नहीं लिये जाते थे। नारी वर्ग के लिए इस प्रथा का जोर अधिक था। इसके परिणामस्वरूप शब्दकोष में भी काफी परिवर्तन होते रहे। पत्नी या मरे हुओं के नामों के बहिष्कार के साथ उन नामों वाले पशु-पक्षियों के नाम भी बदल दिये जाते थे।

उपर्युक्त विधि-निषेधों का, विश्वासों का अथवा रीति-रिवाजों का खण्डन आधुनिक युक्ति से आसानी से किया जा सकता है। परन्तु देखा जाय तो जिस युक्ति से वे काम लेते थे, उसके अनुसार उनके आचार-व्यवहार असंगत न थे। इस युक्ति का विकास धीरे-धीरे हुआ है और हजारों वर्षों की अभिज्ञता के आधार पर युक्ति के रूप और प्रकार में परिवर्तन होता गया है। वास्तविकता यह है कि मानव सभ्यता के लिए बर्बर युग की देन कम नहीं है और साथ ही बर्बर बुद्धि और बर्बर आचरण का अवशेष आज के सभ्य समाज में भी मौजूद है।

धर्म

आदिम मानव समाज में अनेक प्रकार की धर्म विधियाँ होने के कारण धर्म की व्याख्या में विभिन्न मानवशास्त्रविदों में बड़ा मतभेद रहा है। अब हम धीरे धीरे सही व्याख्या के निकट पहुँचते जा रहे हैं। एक मत यह है कि व्यक्तिगत भावनाओं में ही धर्म निहित है। जब कोई व्यक्ति संकट में पड़ता है और अपनी शक्ति या ज्ञान से उस संकट से छुटकारा पाने का कोई उपाय उसे नहीं दिखाई पड़ता है तो वह दैवी पुरुष की शरण लेता है। प्राकृतिक शक्तियाँ उसके लिए देवता और देवियाँ बन जाती हैं। परन्तु व्यक्तिगत देवी देवताओं के अलावा, अलौकिक शक्ति में भी कई जातियों का विश्वास है। यह शक्ति किसी विशेष देवता या देवी की नहीं है। पोलीनेशिया आदि स्थानों में इस शक्ति का नाम मेना है। कोई पुरोहित किसी समय कोई सफल काम कर ले तो उसमें मेना है। वही असफल रहे तो उस समय उसमें यह शक्ति या मेना नहीं है। इस प्रकार मेना उस पुरोहित का अंग या गुण नहीं है। एक मत यह है कि आदिम जातियों में एक ईश्वर का भी ज्ञान है चाहे वह भिन्न भिन्न समय पर भिन्न भिन्न देव-देवियों के रूप में प्रकट हो। एक और मत यह है कि समाज और सामाजिक संस्कृति से ही धर्म की उत्पत्ति होती है। समाज के विश्वास के प्रभाव से ही व्यक्ति भी धर्म और धार्मिक अनुष्ठानों में विश्वास करने लगता है।

समाज की आवश्यकताओं के अनुसार ही धर्म का विशेष रूप होता है। कुछ का कहना है कि आदिम मनुष्य भी तर्क के द्वारा धर्म-विश्वास की सृष्टि करता है। इन सभी मतों में कुछ तथ्य या सत्य अवश्य है लेकिन सम्पूर्ण व्याख्या किसी एक के द्वारा ही नहीं, सब को जोड़ कर भी नहीं की जा सकती।

एक उदाहरण से हमें धर्म सम्बन्धी स्थिति का कुछ स्पष्ट ज्ञान हो सकता है। अफ्रीका के वर्षा बुलाने वाले एक व्यक्ति और एक युरोपीय डाक्टर के बीच जो कथोपकथन हुआ वह नीचे दिया गया है :

डाक्टर—तुम्हारा यह विश्वास है कि बादलों को तुम आदेश दे सकते हो। लेकिन यह तो केवल ईश्वर ही कर सकता है।

वर्षा वैद्य—हम दोनों एक ही वस्तु में विश्वास करते हैं। ईश्वर ही वर्षा करता है, लेकिन मैं प्रार्थना करता हूँ, दवा करता हूँ और जब पानी बरसता है तो वह मेरा है। वर्षा न हो तो घास नहीं उग सकती, गाय दूध नहीं देगी, बच्चे दुबले हो जायेंगे, मर जायेंगे और हमारी औरतें उन कबीलों में चली जायेंगी जो वर्षा कराते हों। हमारी जाति ही मिट जायगी।

डाक्टर—हवा से तुम बादलों पर जादू तो नहीं कर सकते। तुम इंतजार करते हो और जब तुम्हें बादल दिखाई देता है तब तुम अपनी दवाओं का इस्तेमाल करते हो। पानी बरसता है तो उसका श्रेय तुम लेते हो जब कि वह ईश्वर

को ही मिलना चाहिए।

वर्षा वैद्य—मैं भी दवा इस्तेमाल करता हूँ और तुम भी दवा इस्तेमाल करते हो। हम दोनों डाक्टर हैं और डाक्टर धोखा देने वाले नहीं होते। तुम किसी रोगी को दवा देते हो, ईश्वर प्रसन्न होता है तो रोगी तुम्हारी दवा से अच्छा हो जाता है। वह प्रसन्न नहीं होता है तो रोगी मर जाता है। वह अच्छा हो जाता है तो ईश्वर का श्रेय तुम लेते हो। इसी प्रकार ईश्वर वर्षा देता है तो उसका श्रेय हम लेते हैं। रोगी मर जाता है तो अपनी दवाओं में तुम विश्वास नहीं खोते। वर्षा न होने पर मैं भी दवा का प्रयोग छोड़ नहीं देता हूँ।

डाक्टर—मैं दवा देता हूँ और रोगी अच्छा न भी हो तो दवा का प्रभाव मैं देख सकता हूँ। बादल पर प्रभाव अकेले ईश्वर का है। तुम धीरज धर कर प्रतीक्षा करो तो तुम्हारी दवाओं के बिना भी ईश्वर हमें वर्षा देगा।

वर्षा वैद्य—अभी तक मैं यही जानता था कि गोरे लोग बुद्धिमान होते हैं। लेकिन भुखमरी की परीक्षा करने की बात कौन सोच सकता है? क्या उस समय मरना अच्छा लगेगा?

आदि मानव के धर्म सम्बन्धी सभी सिद्धान्तों का कुछ न कुछ अंश इस कथोपकथन में मिलता है। विशुद्ध धर्मवादियों का एक ईश्वर का सिद्धान्त इसमें वर्तमान है। वर्षणकारी अपनी शक्ति के बाहर की चीज पाने के लिए प्रार्थना करता है। मनोवैज्ञानिक व्याख्या भी इसमें मौजूद है। वर्षा वैद्य अपने अनुष्ठानों से वर्षा की इच्छा और उद्वेग प्रकट करता है

और दवा तथा प्रार्थना के द्वारा इच्छा और उद्वेग से उत्पन्न मानसिक तनाव को दूर करता है। कथोपकथन में वर्षा वैद्य युक्ति तर्क की अवतारणा भी करता है। प्राकृतिक कार्य कारण का ज्ञान न होते हुए भी वह दवाओं के प्रयोग का औचित्य सिद्ध करता है। पवित्र दवाओं का प्रयोग उन स्थितियों में होता है जो सारे समाज के हित को प्रभावित करती हैं। वर्षा वैद्य का भी यही सिद्धान्त है कि उसकी दवाओं के बिना जाति ही विनष्ट हो जायगी लेकिन इन सारे सिद्धान्तों में वह पूरी बात नहीं है जो वैद्य कहना चाहता है। वैद्य में सत्य की चाह अवश्य है परन्तु विश्वास को वह परीक्षा की कसौटी पर नहीं रखना चाहता।

वहुतेरी जनजातियों में वलिदान केन्द्रीय धार्मिक कार्य हुआ करता है। वलिदान सम्वन्धी विभिन्न अनुष्ठानों में मुख्य प्रयत्न पवित्र और अपवित्र के वीच सम्पर्क स्थापित करना है। जिसका वलिदान किया जाता है, वह पशु हो या और कुछ, उसके जरिये ही यह सम्पर्क स्थापित किया जाता है। वलि के पशु आदि का उत्सर्ग कर उसे शुद्ध किया जाता है फिर उसकी हत्या की जाती है। इस बलि के उपहार से पवित्र और अपवित्र के वीच सम्वन्ध स्थापित होता है। वलिदान जो करते हैं वे इस उपहार के वदले आध्यात्मिक, नैतिक या आर्थिक लाभ प्राप्त करते हैं, जो और किसी प्रकार से प्राप्त नहीं किये जा सकते। परन्तु वलि के भी कई प्रकार होते हैं। वलि देने वाला पशु की वलि न देकर स्वयं अपना ही कोई अंग भी वलिदान कर सकता है। अमेरिका का क्रो इंडियन

किसी निर्जन पहाड़ की चोटी पर उपवास करता है। फिर अपने प्रेत-अभिभावक के माध्यम से दर्शन पाने के लिए अपनी उंगली काट कर सूर्य को भेंट करता है। भेंट चढ़ाते हुए वह प्रार्थना करता है, "मेरे पितृवंशीय देवता, देखो मैं कितनी यातना सह रहा हूँ। लो, मेरे शरीर का यह अंग, लो, इसे खाओ और मुझे कोई अच्छी वस्तु दो।" जब वह काफी पीड़ा भोग लेता है तो निद्रित अवस्था में उसे दर्शन मिलता है जो उसके जीवन का पथप्रदर्शक बन जाता है। इस क्षेत्र में वह स्वयं ही अपनी बलि बन जाता है और अपने ही एक भाग का बलिदान करता है।

सत्य के ज्ञान की इच्छा आधुनिक और आदि मानव के धर्मों में समान रूप से वर्तमान है। आदि मानव का प्रयत्न यह होता है कि जो कुछ वह कहे वह सत्य साबित हो। बीमार व्यक्ति को रोग मुक्त करने के लिए किसी पशु के बलिदान की प्रथा से इसका एक उदाहरण मिलता है। दिंका जनजाति का ओझा कहता है, "हे सांड तुम्हें दोपहर की धूप में यों ही बांधा नहीं गया है। बीमार व्यक्ति को तुम्हारा जीवन दान करना है, इसलिए तुम्हारा बलिदान करना है। भगवान और टोटेम, तुम मेरी बात सुनो, बीमारी के प्रेत, मैंने तुम्हें उस व्यक्ति से अलग कर दिया है। अब मैं कहता हूँ कि तुम उस व्यक्ति को छोड़ो। मेरे पूर्वजों की टोटेम आत्मा, मुझ से झूठ न कहलाओ।" पुरोहित का वाक्य सही करना है। इसलिए उस स्थिति का वर्णन किया जाता है जबकि उसके वाक्य सही साबित हो गये हों, अर्थात् बीमार व्यक्ति रोगमुक्त हो गया हो।

आदिम मानव, दुनिया और उसमें अपने स्थान को रहस्य मान कर उस रहस्य के उद्घाटन की चेष्टा नहीं करता। वह यह अनुभव करता है कि कुछ सीमाओं के अन्दर ही जीवन व्यतीत किया जा सकता है। इन सीमाओं को वे जान लेते हैं लेकिन उन्हें परिवर्तित करने की क्षमता उनमें नहीं है। उनका धर्म वताता है कि ये सीमाएँ क्या हैं और इन सीमाओं में अपने को किस प्रकार भली भाँति खपाया जा सकता है। सीमा सम्वन्धी उनकी धारणाएँ हमें गलत प्रतीत हो सकती हैं, परन्तु हमारी ही तरह ज्ञानपिपासा उनमें भी मौजूद है।

शरीर और आत्मा के सम्वन्ध में पेचीदे तथ्य भी आदिम जातियों में मिलते हैं। आस्ट्रेलिया की माओरी जाति का विश्लेषण एक उदाहरणस्वरूप है। इस विश्लेषण के अनुसार प्रत्येक जीवित प्राणी के चार अंग हैं। एक है शाश्वत उपादान, एक आत्मा जो मृत्यु के वाद शरीर त्याग कर चली जाती है, एक प्रेतछाया है और एक शरीर है। शाश्वत उपादान मनुष्य के अन्दर ईश्वर की आत्मा है। इसे वे तोईओरा कहते हैं। आत्मा या अहम् के तीन उपादान हैं—एक गतिशील तत्व, एक जीवन तत्व या व्यक्तित्व और अवयव आदि। गतिशील तत्व का नाम माउरी है जिसके भौतिक और अभौतिक दो रूप हैं। भौतिक माउरी कोई भी वस्तु हो सकती है। कभी-कभी वच्चे का जन्म होने पर एक पौधा लगाया जाता है और उस पौधे को या पौधा वड़ा होने पर उस वृक्ष को ही वच्चे की माउरी समझी जाती है। जीवन तत्व, हाऊ और अवयव आदि 'मानावा ओरा' के भी भौतिक और अभौतिक या

अतिभौतिक रूप हैं। हाऊ को श्वास कहा जा सकता है—एक आध्यात्मिक श्वास और दूसरा श्वास-प्रश्वास। प्रेतछाया, मनुष्य की आत्मा है। इसे आंशिक रूप में ही देखा जा सकता है और वह पातालपुरी में प्रवेश न करे तो उसका कोई भौतिक रूप नहीं होता। इस प्रेतछाया या मानवात्मा को वाइरुआ कहते हैं। इसी के माध्यम से मनुष्य बाहरी दुनिया में प्रवेश करता है। वाइरुआ न हो तो हम निर्जीव हों, इसके बिना हम विनाश प्राप्त करते हैं। यहां यह स्मरण रखना होगा कि हम केवल अपनी इंद्रियों से ही देखते-छूते नहीं है। एक बूढ़े माओरी ने एक नृतत्वविद को लिखा, "हम बहुत दिन हुए जुदा हो चुके हैं, अपनी आंखों से हम एक दूसरे को देख नहीं सकते। लेकिन हमारी वाइरुआ एक दूसरे को देखती है।" वाइरुआ तो कभी विनाश प्राप्त नहीं होता है लेकिन किसी व्यक्ति को उसकी वाइरुआ के माध्यम से मारा जा सकता है। आसन्न दुर्घटना से कोई भयभीत हो तो वास्तव में उसकी वाइरुआ पर कोई प्रभाव पड़ा है।

भौतिक और अतिभौतिक के मूल प्रभेद का रूप शरीर सम्बन्धी माओरी व्याख्या से स्पष्ट हो जाता है। शरीर के दो पहलू हैं। पहले रूप में यह सम्मिलित इकाई है जहां तोई-ओरा, वाइरुआ, माउरी और मानावाओरा विश्राम करते हैं और दूसरे रूप में, पेट, दिल, मेदा आदि भिन्न-भिन्न अवयव हैं। वास्तव रूप में इसका एक अतिभौतिक अंग है और अवास्तविक रूप में इसका एक भौतिक अंग है। सम्मिलित दृष्टि से इसमें सारतत्व भी है और बाह्य रूप भी है। तत्व और रूप की

समस्या के समाधान में इसे एक महत्वपूर्ण प्रयत्न कहा जा सकता है।

आदिम मानव जाति के धर्म के सम्बन्ध में विचार करते हुए यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि आदिम जातियों में चिन्तक और क्रियाशील दो मुख्य वर्ग हैं। अत्यल्पसंख्यक चिन्तक वर्ग ही धार्मिक सिद्धान्त गढ़ता है और क्रियाशील वर्ग उसे मान कर चलता है। यह भी सही है कि कुछ व्यक्तियों का मनोवैज्ञानिक ढाँचा ही धर्मानुकूल होता है और वे धर्म के द्वारा ही मानसिक सन्तुलन प्राप्त करते है।

आदिम अर्थनीति

आदिम जनजातियों के आर्थिक ढांचे में बहुत भिन्नता है। आस्ट्रेलियन जातियाँ या कैलिफोर्निया के इंडियन आखेट या जंगली फल-मूल के संग्रह के द्वारा ही जीवन निर्वाह करते है। पशु-पालन या खेतीवाड़ी का उन्हें कोई भी ज्ञान नहीं है। पश्चिमी सूदान के फूला या वेदुईन अरब पशु-पालन करते हैं। खेती पर वे बहुत कम निर्भर रहते हैं और हो सकता है कि वे खुद कोई भी पौध न उपजाते हों। कुछ हाथों से ही खेत गोड़ते हैं और उनके पास कोई पशु आदि नहीं होते जैसा कि मध्य अफ्रीका के कुछ भागों में होता है। अफ्रीका की दक्षिणी वान्टू जाति पशु-पालन भी करती है और खेती भी करती है और आखेट भी।

मानव इतिहास में कृषि का प्रचलन बहुत देर से हुआ। कृषि से उपज की भी बहुत वृद्धि हुई। लेकिन यह जरूरी नहीं है कि जो फल-मूल आदि संग्रह करते हों, उनका जीवन स्तर खेती करने वालों के जीवन स्तर से नीचा हो। कुछ कृषि न करने वाली जातियों ने भी पास पड़ोस की जंगली उपज से ही प्रचुर लाभ उठाने का कौशल आयत्त किया। उत्तर अमेरिका के उत्तर पश्चिमतट के मछली मारने वाले या शिकारी कबीले न केवल प्रचुर शिकार का संग्रह कर लेते थे वल्कि पेड़ों के तख्ते चीर कर लकड़ी के मकान भी बना लेते थे। वे बाँध बनाना जानते थे और गिरोहों के साथ ह्वेल मछली के

शिकार के लिए अभियान भी करते थे। तकनीकी दृष्टि से वे काश्तकार-श्रेणी से आगे बढ़े हुए थे। पशुपालक खाना-बदोशों के सम्बन्ध में प्रचलित धारणा यह है कि वे खेती के विकास के पहले आये लेकिन वास्तव में वे पहले उन जगहों के पास देखे गये जहाँ लोग खेती के लिए कायमी तौर पर बस गये थे और साथ ही कुछ पशुओं का भी पालन करते थे।

आदिम आर्थिक संगठन की विशेषताएँ, आजीविका के किसी विशेष उपाय में नहीं पाई जाती हैं। इस संगठन की बुनियादी बात तकनीकी ज्ञान का बहुत नीचा स्तर है। जल-वायु कितनी ही अनुकूल हो और वनस्पति और पशु जीवन में प्रकृति चाहे जितनी समृद्ध हो, परन्तु तकनीकी ज्ञान साधारण मात्र हो, तो लोग अपने प्रदेश के साधनों से सीमित लाभ ही उठा सकते हैं। आदिम जीवन में लोग अपने हाथों पैरों से ही काम लेते हैं और मनुष्य की शक्ति एक घोड़े की शक्ति का दसवां हिस्सा ही होती है। जानवर, पानी, भाप या बिजली का सहारा न मिले तो केवल कुदाल, मछली के जाल या तीर धनुष से उत्पादन का परिमाण कम होना अनिवार्य है। ऐसी स्थिति में प्रत्येक को खाद्योत्पादन करना पड़ता है और श्रम के बटवारे की कोई गुंजाइश नहीं होती है।

प्राकृतिक परिस्थितियाँ कुछ प्रकार के विकास के मार्ग में बाधा डालती हैं और कुछ अन्य प्रकारों को प्रोत्साहित करती हैं परन्तु यह विधान नहीं देतीं कि आर्थिक विकास की दिशा क्या हो। मनुष्य अपने श्रम और हुनर से दोहरा वातावरण पैदा करता है। श्रम के परिमाण और हुनर की विभिन्नता

के कारण एक ही पर्यावरन से अलग-अलग नतीजे निकाले जा सकते हैं।

प्रति दिन या मौसम भर खाद्यसंग्रह में जुटे रहना, अधिकांश समय कठिनाई का सामना करते रहना और भूख का खतरा, ये आदिम आर्थिक ढाँचे के साधारण लक्षण हैं। इनके साथ यान वाहन की कठिनाई भी है परन्तु जिन खानावदोशों के पास घोड़े या ऊँट होते हैं उनके सम्वन्ध में यह लागू नहीं है। एक और कठिनाई सामान या अनाज आदि जमा कर रखने की है। यद्यपि एकाएक इस पर हमारी नजर नहीं जाती है लेकिन यह आदिम जातियों की एक मौलिक कमी है। उत्तरी रोडेशिया की वेम्वा जाति या दक्षिण अमेरिका के मोटोग्रासो की नाम्वीक्वारा जाति काफी फल और अनाज आदि जमा कर लेती थी लेकिन गर्मी, नमी या दीमक सव कुछ चाट जाते। पोलिमेसिया में टिकोपिया के लोग मछली साफ करना नहीं जानते थे। एसकिमों वहुत दिनों तक माँस सुरक्षित रख सकता है, लेकिन जिस वर्फ के कारण यह सम्भव होता है, उसी वर्फ के कारण उसके देश में पेड़ पौधे उग नहीं पाते, कोई साग सब्जी उसे मिल नहीं सकती, ईंधन या मकान वनाने के लिए उसे लकड़ी नहीं मिल सकती। पशुपालकों का पशु सुरक्षित रह सकता है परन्तु रोग फैलने पर उनका भी सफाया हो जाता है और खानावदोशों के लिए दूसरा कोई सहारा नहीं रह जाता। आदिम जातियों के पास कुछ सरल किस्म के ही औजार होते हैं और उनसे टिकाऊ चीज थोड़ी ही वन पाती है। थोड़े में, आदिम अर्थप्रणाली में उत्पादन

क्षमता भावी जरूरतों पर वहुत कम ध्यान दे पाती है। संग्रह करना कठिन होता है और लम्वी अवधि के लिए योजना वनाना तो असम्भव ही हो जाता है। अतः सुरक्षा की भावना का अभाव आदिम आर्थिक ढांचे की एक वड़ी निशानी है। परन्तु इस क्षेत्र में विभिन्न आदिम जातियों में वड़ा अन्तर पाया जाता है। उदाहरण के लिए फल-मूल संग्रहकारी कैलिफोर्निया के योकुत और व्रिटिश कोलम्विया के क्वाकियुत्ल मछुओं को प्रकृति ने ही इतना सम्पद न्योछावर किया कि उन्हें कभी अभाव नहीं होता था।

आदिम अर्थनीति के अधिकांश क्षेत्रों की एक और विशेषता है—प्राकृतिक साधनों में विभिन्नता का अभाव। कुछ जातियाँ अपनी सारी जरूरतों की पूर्ति के लिए कुछ इनी गिनी उपजों पर ही निर्भर रहती हैं। पशुपालक और शिकारियों में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से पाई जाती है। सील मछली का मांस एसकिमो का आहार है। उसकी चर्वी का इस्तेमाल वह ईंधन के रूप में करता है और वह रोशनी करने के काम में भी आती है। इसके चमड़े का वह वस्त्र या तम्वू वनाता है। उसकी मांसपेशियाँ सुतली या रस्से का काम देती हैं और उसकी हड्डी से औजार वनाये जाते हैं। इस प्रकार थोड़े से प्रयत्न से ही लाभ तो वहुत होता है लेकिन इस प्रकार की आजीविका के खतरे भी वहुत हैं। तूफानी सर्दी में सील मछली न मिले तो सम्पूर्ण समुदाय को ही मौत का सामना करना पड़ता है। दक्षिणी सूदान के पशुपालक नूएर अपनी मवेशियों से ही सारा काम निकालते हैं। लेकिन पिछली सर्दी

के अन्त में पशुओं में महामारी फैली तो उनकी दुर्दशा की सीमा नहीं रही। ऐसे लोगों में उनकी आजीविका के मुख्य साधन पर अत्यधिक बल दिया जाता है और यह साधन उनके धार्मिक प्रतीक का भी केन्द्र बन जाता है। थोड़े से मुख्य साधनों पर अत्यधिक बल दिये जाने के कारण आर्थिक विकास ही विकृत हो सकता है। नूएर के देश में जंगली जानवरों और चिड़ियों की बहुतायत है लेकिन उन्हें पालतू मवेशी का दूध और मांस मिले तो इन जंगली जानवरों का शिकार वे कभी नहीं करते। इसके विपरीत आखेट करने वाली जातियाँ पालतू मवेशी के मांस से घृणा करती हैं। इसका एक नतीजा यह होता है कि उपलब्ध तकनीकों से भी ये जातियाँ प्राकृतिक सम्पदाओं से पूरा लाभ नहीं उठा पातीं। दूसरा नतीजा यह होता है कि देश में या विदेशों से विनिमय कार्य में बाधा पड़ती है।

अब हम आदिम अर्थ व्यवस्था की मुख्य विशेषताओं को इस प्रकार गिना सकते हैं: आदिम जातियों का अधिकांश समय प्रतिदिन या मौसम की खाद्यपूर्ति में ही लग जाता है। यातायात की सुविधाएँ सीमित होती हैं और अनाज या सामान संग्रह कर रखने में भी कठिनाई होती है। अलावा इसके वे प्रकृति के एक दो साधनों पर ही अत्यधिक निर्भर होती हैं। इन रुकावटों का कारण तकनीकी ज्ञान का निम्न स्तर है जो उत्पादन क्षमता को बहुत सीमित कर देता है। जहाँ ये विशेषताएँ पाई जाती हैं वहाँ इनके कुछ अवश्यम्भावी परिणाम होते हैं। यह अर्थ व्यवस्था थोड़े से लोगों में ही सीमित होती है और किसी छोटे गाँव के बाहर इस आर्थिक

ढाँचे का विस्तार नहीं होता है। सामाजिक और व्यक्तिगत सम्बन्ध एक जैसा ही होता है। हर एक प्रत्येक को बचपन से ही जानता है और प्रत्येक से उसका कुछ न कुछ सम्बन्ध भी होता है। बीमार या बेबस, पड़ोसियों की दया पर भरोसा रख सकते हैं। किसी को जरूरत पड़े तो औजार या खाद्यान्न आदि पड़ोसियों द्वारा दिया जाना नैतिकता का अंग होता है। जो समूह एक साथ रहता और काम करता है उसमें निकटता या आत्मीयता की दृढ़ भावना होती है। यातायत की कठिनाई के कारण एक समूह अन्य समूहों से पृथक् रहता है और यह भी समूह के सदस्यों के निकट सम्बन्ध का एक कारण है। समूह छोटा होने के कारण किसी को किसी विषय में विशेषज्ञ बनने का मौका नहीं मिलता। जो काम एक जानता है वह सभी जानते हैं।

ऐसी परिस्थिति में आर्थिक और सामाजिक सम्बन्धों में कोई भेद नहीं होता। मालिक और नौकर के सम्बन्ध का कोई सवाल ही पैदा नहीं हो सकता। इस प्रकार आर्थिक प्रक्रियाएँ सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं और राजनीति तथा त्यौहार, उत्सव इन प्रक्रियाओं में घुले मिले रहते हैं। इस व्यवस्था में आर्थिक विनिमय बहुत सीमित होता है परन्तु विनिमय बिल्कुल होता ही नहीं, ऐसी बात नहीं है। शिकारी मांस के बदले खेती करने वालों से अनाज ले सकता है। समुद्रतट पर रहने वाले मछली के बदले में अनाज पैदा कर सकते हैं। कोई समुदाय अपनी किसी विशेष उपज के बदले अन्य समुदाय से और किसी विशेष उपज की प्राप्ति कर

सकता है। दो समुदायों के बीच एक समूह विनिमय के लिए मध्यस्थ का काम भी कर सकता है। वाणिज्य में अण्डों के छिलकों की माला और तम्बाकू के दाम वँधे हुए होते थे और इनकी तुलना से अन्य चीजों के दाम निश्चित किये जा सकते थे। प्रदेश के अन्दर भी विनिमय सम्भव है। जब चार पाँच छोटे-छोटे समुदाय निश्चित तिथियों पर स्थानीय वाजार में इकट्ठा होते हैं तो उत्पादन की असमानताएँ विनिमय के द्वारा समान हो जाती हैं। लेकिन उत्पादन विक्री के लिए नहीं किया गया है। जरूरतों की पूर्ति के वाद जो कुछ वच रहता है, वही वाजारों में पहुँचता है।

यह जरूरी नहीं कि उत्पादन की जो इकाई हो वही उपभोग की भी इकाई हो। उत्पादक इकाई तकनीक पर निर्भर होती है। परन्तु उपभोक्ताओं का समूह चन्द परिवारों से लेकर पूरा स्थानीय समुदाय हो सकता है। जैसा काम हो, उसके अनुसार भिन्न-भिन्न मौसमों में विभिन्न दल उत्पादन कार्य में सहयोग करते हैं। कुछ कार्यों के लिए एक व्यक्ति ही सवसे उपयुक्त इकाई हो सकता है। सील मछली के गढ़े पर इन्तजार करने के लिए अकेला एसकिमो ही सवसे अच्छा है। अफ्रीका का वुशमैन अपने कुत्ते के साथ शिकार के लिए सव से अच्छा दल है। परन्तु जंगली जानवरों के भुण्ड को फन्दे में डालने के लिए पूरे समूह के पुरुष वल की आवश्यकता पड़ती है। कुछ प्रकार के उत्पादन के लिए श्रम का विभाजन भी किया जाता है। वूढ़े हल्का काम करते हैं और जवान कठिन श्रम का काम करते हैं। स्थानीय रिवाज के अनुसार

कोई भी अपने काम के लिए सभी समवयस्कों को या रिश्तेदारों को या जिले के सभी सक्षम व्यक्तियों को बुला सकता है। लेकिन काम के पेचीदा न होने के कारण काम करने वालों की इकाई कभी बड़ी नहीं होती।

श्रम किसने कितना किया यह हिसाव नहीं लगाया जाता और न ही इसके अनुसार उपज का विभाजन किया जाता है। बुशमैन जाति में किसी जानवर का शिकार कोई अकेला करे या सामूहिक रूप से उसका शिकार किया गया हो, मांस के वितरण का नियम एक ही है। कोई हिरण शिकार करता है तो वह शिकार मुखिया को लाकर दे देता है। मुखिया नियम के अनुसार सारे समूह में उसका वितरण करता है। विवाहित लोगों का एक हिस्सा होता है, नवयुवकों का अलग हिस्सा और महिलाओं का भी पृथक हिस्सा। हर एक को अपनी हैसियत के अनुसार दिया जाता है। समुदाय की औरतें जो साग-सब्जी, फल-मूल इकट्ठा करती हैं, अपना-अपना हिस्सा अपने परिवारों के लिये रख लेती हैं। लेकिन मांस नियमित रूप से नहीं मिलता, इसलिए यह सारे समुदाय में समान रूप से बाँट दिया जाता है जिससे प्रत्येक परिवार को एक हिस्सा मिल सके।

जब नयी जमीन जोतने बोने के लिए श्रमिकों का दल बनाया जाता है तो दल का प्रत्येक सदस्य दल के पूरे काम से लाभ उठाता है। कभी-कभी श्रमिकों को बुलाने के लिए दावत भी दी जाती है परन्तु श्रम की मुख्य प्रेरणा इससे मिलती है कि हर एक समुदाय की सद्भावना प्राप्त करना चाहता है। इससे उसे यह भी निश्चय हो जाता है कि लोग

उसकी जरूरत पड़ने पर भी मदद करेंगे। आदिम अर्थ व्यवस्था में मजदूरी नहीं होती। श्रम करने के कारण ही उपज के किसी भाग पर उसका अधिकार नहीं हो जाता। हिस्से का दावा वह समुदाय के एक सदस्य के रूप में या समाज में अपनी हैसियत के कारण कर सकता है। वह सामाजिक कर्तव्यों के पालन के लिए काम करता है या समाज में अपनी हैसियत या मर्यादा बनाये रखने के लिए जिसका अधिकारी वह पुरुष या नारी होने के कारण या उम्र और ओहदे के अनुसार होता है।

जिस प्रकार उत्पादन कार्य के लिए कोई नियमित दल या इकाई खोज निकालना कठिन है उसी प्रकार उपभोग के सम्बन्ध में भी कोई विशेष इकाई नहीं मिलती। उपभोग का अधिकार व्यक्ति विशेष का हो सकता है और किसी परिवार या पूरे समुदाय का भी। समाज के विभिन्न दलों के अनुसार बटवारे के तरीके भी भिन्न प्रकार के हो सकते हैं। इसलिए परिवार को ही उपभोक्ता की इकाई ठहराना असम्भव है। पत्नियाँ घर में खाना बनाती हैं लेकिन भोजन का एक भाग लंगर को पहुँचाया जाता है जहाँ मर्द भोजन पाते हैं।

उदाहरण के तौर पर नूएर जाति में चरवाहों का पूरा समुदाय ही परिवार का एक विस्तृत रूप होता है और शादी होने पर या किसी पर जुर्माना होने पर प्रत्येक परिवार अपने हिस्से के सम्बन्ध में चौकन्ना रहता है। लेकिन जहाँ तक मवेशियों से उत्पन्न खाद्य वस्तुओं का सम्बन्ध है, हर एक इस प्रकार आदतन अन्य घरों में जाकर भोजन करते रहते हैं कि ऐसा लगता है कि सारे गाँव का खाद्य भण्डार एक ही है।

कृषि समाज में भूमि पर व्यक्तियों का अधिकार सम्पूर्ण ज्ञान के अधिकार द्वारा सीमित होता है। मुखिया के अधीन वेम्वाओं का गाँव कब्जे के अधिकार से जमीन का मालिक होता है जब कि प्रत्येक पुरुष अपने निवास स्थान के माध्यम से उस जमीन का मालिक होता है जो उसने जंगल काट कर साफ की है। प्रत्येक पत्नी अपने पति के खेतों में उगाये गये अनाज को अपनी खत्ती में जमा करती है लेकिन अतिथियों को खिलाने पिलाने के लिए सारा गाँव ही एक संयुक्त परिवार जैसा है। साथ ही एक दूसरे के घरों में भोजन करते रहने के कारण साल भर की पैदावार का वटवारा सारे गाँव में हो जाता है।

ये रिवाज आदिम अर्थ व्यवस्था में प्रायः पाये जाते हैं और आदिम तकनीकों से उत्पन्न आमदनी की विषमताओं को समान कर देते हैं। किसी के खेत में पड़ोसियों के खेतों की अपेक्षा अधिक फसल उत्पन्न हो तो जनमत के दवाव से उसे अतिरिक्त फसल पड़ोसियों को वाँट देनी पड़ती है। अतः श्रम के पुरस्कार की वजाय हैसियत के अनुसार समान विभाजन ही आदिम आर्थिक प्रणाली का एक और लक्षण है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि ऊँची हैसियत वालों को आर्थिक दृष्टि से विशेष अधिकार प्राप्त नहीं होते।

दो कारण आय या उपज के वितरण के लिए आदिम जातियों को मजवूर करते हैं। अभाव की निरन्तर ताड़ना लोगों को उदारता देती है क्योंकि हर एक महसूस करता है कि वह सुरक्षित नहीं है इसलिए पड़ोसियों पर भी उसे निर्भर रहना है। दूसरी वात यह है कि तकनीकी साधनों के अभाव

के कारण उपज या अन्य वस्तुओं को अधिक समय तक विनष्ट
होने से बचाया नहीं जा सकता। आदिम अर्थ व्यवस्था में
सम्पत्ति का अधिकांश भाग विनष्ट होने वाली चीजें होती हैं
और इनके उपभोग को अनिश्चित काल तक स्थगित नहीं
किया जा सकता है जो अतिरिक्त उपज अपने पड़ोसियों में बाँट
देता है उसे, कम से कम, सम्मान प्राप्त करने का सन्तोष होता
है। उपहार के बदले प्रति उपहार प्राप्त होने वाले निश्चय
के कारण वह इस प्रकार, भविष्य के लिए अपनी सुरक्षा कर
रखता है। इसे कर्ज का प्रारम्भिक रूप भी कहा जा सकता
है। यह उम्मीद की जाती है कि उपहार प्राप्त करने वाला
दाता की जरूरत पड़ने पर, उसके साथ भी यही व्यवहार
करेगा। उपहार पाने वाले दाता के प्रभाव को स्वीकार करते
हैं और समाज में उसकी मर्यादा वृद्धि में भी सहायक होते हैं।
आदिम जातियों में राजनैतिक शक्ति का आर्थिक नियंत्रण
से कोई सम्बन्ध नहीं होता जैसा कि आधुनिक अर्थ व्यवस्था
में होता है। उनमें जो अपने इर्द-गिर्द अनुयायिओं को इकट्ठा
कर उन्हें खिलाता पिलाता और संरक्षण प्रदान करता है, वही
राजनैतिक शक्ति और सम्मान प्राप्त करता है। परन्तु सामा-
जिक हैसियत में वृद्धि हो तो आर्थिक सुविधाएँ भी मिलती हैं।
नाम्बीक्वारा जाति में सरदार या पुरोहित (शमन) ही एका-
धिक पत्नी रख सकता है और यह उसकी जिम्मेदारी का
पुरस्कार समझा जाता है। बेम्वा जाति के सरदार को अपने
दरबार में आये हुए अतिथियों या अपने परिषद वर्ग की
जरूरतों की पूर्ति के उद्देश्य से ही कई पत्नियां रखनी पड़ती

हैं। सरदार को खिराज मिलता है और साथ ही वह दान खैरात और अतिथि सत्कार भी करता है। इस प्रकार वह अपनी हैसियत वनाये रखता है। ऐसी स्थिति में उत्पादन के नियन्त्रण द्वारा राजनैतिक सुविधाएँ या उपभोग के अधिकार नहीं मिलते बल्कि राजनैतिक अधिकार की प्राप्ति से और सामाजिक हैसियत के द्वारा ही वितरण पर नियन्त्रण प्राप्त किया जा सकता है। आदिम अर्थ व्यवस्था में राजनैतिक और धार्मिक संस्थायें सम्पत्ति के पुनर्वितरण के महत्वपूर्ण साधन हैं।

आदिम समाज में विवाह भी सम्पत्ति के वितरण का एक साधन होता है। पितृ प्रधान समाज में, विवाह, औरत और उसके बच्चों पर अधिकार पिता से पति को हस्तान्तरित करता है। इस हस्तान्तरण के लिए वधू के सम्वन्धियों को प्रचुर उपहारादि देने पड़ते हैं। विवाह क्रम से सम्पत्तियों का पुनर्वितरण होता है। वधू की प्राप्ति के लिए कोई अपने मवेशियों की संख्या वढ़ाता रहता है और शादी की वातचीत चलते ही उसके पास फिर इने-गिने जानवर ही रह जाते हैं। सभी सामाजिक कर्तव्य, इन उपायों के द्वारा आर्थिक वितरण के साधन वन जाते हैं अतः यह कहना अत्युक्ति न होगी कि आदिम अर्थ व्यवस्था में सामाजिक वन्धन प्रारम्भिक कर्ज संस्थाओं का काम करते हैं।

उपहार और विक्री में महत्वपूर्ण प्रभेद यह है कि उपहार-विनिमय का प्रथम उद्देश्य सामाजिक सम्बन्ध की रचना है जब कि क्रय-विक्रय में दोनों सामाजिक दलों में निरन्तर सामाजिक सम्वन्ध आकस्मिक मात्र है। आज की आर्थिक व्यवस्था

में भी उपहार विनिमय के द्वारा काफी मात्रा में सम्पत्ति का विभाजन होता है, यद्यपि इसका मुख्य जरिया वाणिज्य ही है। आदिम आर्थिक प्रणाली में वाणिज्य वहुत कम होता है लेकिन उपहार-विनिमय की प्रणाली सुविकसित है जो वस्तुओं के विभाजन के साथ सामाजिक सम्बन्धों को भी सुदृढ़ करती है।

आधुनिक अर्थशास्त्र की पूंजी, सूद, लागत, वचत आदि धारणाएँ आज की जटिल विनिमय प्रणाली को ध्यान में रख कर ही वनाई गई हैं परन्तु वीज रूप में, आदिम अर्थ व्यवस्था में भी हम इन्हें खोज-ढूंढ सकते हैं। पूंजी की सव से सरल परिभापा उत्पादन के औजारों पर केन्द्रित है। कोई मनुष्य या दल जो किसी विशेप काम के लिए कोई विशेप औजार वनाता है, चाहे वह पेड़ के खोखले हिस्से से वनी नाव हो या मिट्टी खोदने वाली लकड़ी ही हो, उम्मीद यह करता है कि उस औजार का इस्तेमाल वह काफी दिनों तक कर सकेगा। व्यापक अर्थ में न केवल औजार वल्कि कोई भी चीज जो भविष्य में कुछ अरसे तक काम में लाने के लिए वनाई जाती है, पूंजी ही है—उदाहरण के लिए मकान, पुल या खत्ती।

परिभापा के अनुसार ही आदिम अर्थ व्यवस्था पूंजी में हीन होती है। तकनीकी ज्ञान के निम्न स्तर के कारण उनके औजार और हथियारों का परिमाण, वैचित्र्य या प्रभाव और मकान या सड़कों की उपयोगिता सीमित होती है। ऐसी अर्थ व्यवस्था से उत्पादन की विशेपता की गुंजाइश कम ही होती है और विनिमय भी नाममात्र के लिए ही होता है। परिणाम-स्वरूप मुद्रा का विकास भी जो मुख्यतः विनिमय का माध्यम

है, बहुत सीमित रहा है। परन्तु मुद्रा का प्रचलन होता ही न हो, ऐसी बात नहीं है। सूअर, कौड़ी, लोहे की छड़ी या तम्बाकू, कोई भी चीज आपेक्षिक मूल्यों का माप बन सकती है और विनिमय का माध्यम हो सकती है।

मुद्रा प्रणाली का अस्तित्व ही, चाहे वह कितनी अविकसित हो, अर्थ व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक सदस्य को बचत का मौका देता है। वह अपनी उपज के बदले मुद्रा ग्रहण करता है क्योंकि इसके द्वारा कोई अन्य चीज तत्काल या भविष्य में खरीदने का हक उसे प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार उपभोग को स्थगित रख कर भोग के समय का निश्चय वह अपनी इच्छा के अनुसार कर सकता है। कोई संचित धन अलग रख दे तो भविष्य में उसे खर्च करने का अधिकार वह बना लेता है। कर्ज करने वाला सारा धन खर्च भी कर डाले, तो कर्ज देने वाला फिर भी धन बचा रहा है बशर्ते कि यह उम्मीद हो कि कर्ज लेने वाला भविष्य में अपना कर्ज अदा कर देगा। कर्ज अदा हो चुके तो कर्ज देने वाला पिछले समय भोग से निरस्त रहने का लाभ उठा सकता है। वह अपने भविष्य के लिए तो बचा लेगा लेकिन सम्पूर्ण आर्थिक ढाँचे के अन्दर कोई बचत नहीं हुई। एक व्यक्ति की बचत दूसरे के खर्च से समाप्त हो गई। खर्च न भी हो तो इस बचत से विशेष लाभ नहीं क्योंकि आदिम अर्थ व्यवस्था में टिकाऊ चीजें नहीं बनतीं। सामुदायिक बचत उसी मात्रा में होती है जिस मात्रा में टिकने वाली चीजें बनाई जांय। मकान, छुरियाँ, भाला, अच्छे जुते हुए खेत या मछली पकड़ने के जाल ऐसी कुछ टिकाऊ चीजें हैं परन्तु तक-

नीक का स्तर नीचे होने के कारण इनकी संख्या या परिमाण अधिक नहीं होता।

दूसरी ओर वितरण प्रणाली की विशेषता के कारण आदिम अर्थ व्यवस्था में श्रम की इच्छा, और इसलिए उत्पादन पर बुरा असर पड़ सकता है। अतिरिक्त उपज पड़ोसियों में बाँटने की बाध्यता के कारण उपज पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता। जावा द्वीप में कोई धनी होना चाहता है तो वह दूसरे गाँव में जा बसता है जहाँ अजनबी होने के कारण ग्राम समुदाय की मजबूरियों से उसे छुटकारा मिल जाता है। समाज में भिन्न भिन्न ओहदों का भी यही प्रभाव पड़ता है। ऊँचे ओहदे वालों का जीवनमान ऊँचा होता है और नीचे ओहदे वाला इस भय से अधिक धन इकट्ठा नहीं करता कि लोग यह सोचेंगे कि वह अपने ओहदे से ऊँचा उठना चाहता है। उसे यह भी डर लगता है कि वह अधिक इकट्ठा करे तो अधिकांश उसे सरदार को सौंप देना पड़ेगा।

आदिम मानव की आर्थिक व्यवस्थाओं की भिन्नता के बावजूद एक सिद्धान्त सर्वमान्य है। वह यह कि प्रत्येक व्यक्ति को जीवन धारण की न्यूनतम आवश्यकताओं की प्राप्ति का अधिकार है। उसे भर पेट खाना देना ही होगा और उसके पहनने के वस्त्र और रहने की जगह की भी व्यवस्था करनी ही होगी। इस सिद्धान्त को सार्वभौमिकता कैसे मिली यह कुछ रहस्य-सा ही रह गया है। आदिम समाज में मालकियत की धारणा भी हमारी धारणाओं से बहुत भिन्न है। मालिकाना की प्रधान शर्त यह है कि सम्पत्ति का इस्तेमाल प्रचलित

रखना पड़ता है। सम्पत्ति का इस्तेमाल रुक जाय तो मालिकाना हक भी समाप्त हो जाता है। सम्पत्ति का हस्तान्तरण भी इस प्रकार होना चाहिए कि उसका इस्तेमाल रुक न जाय।

आदिम विनिमय प्रथा के रूप के सम्वन्ध में मेलानेसिया की कूसा जाति के एक उदाहरण से कुछ आभास मिल जाता है। दोवुआ उपजाति के लोग नावों पर सवार होकर ओव्रिआँद उपजाति से वाणिज्य करने के लिए जाते हैं। सभी नाविकों के परिवारों ने मिलकर उपहार वनाया है जो ओव्रिआंद उपजाति को दिया जाता है। इसके कुछ समय वाद ओव्रिआंद दोवुआ को वह सामान देते हैं जिसकी उन्हें चाह है। साथ ही वे उपहार के वदले अपना उपहार भी प्रदान करते है। सामान उन्हें कर्ज पर दिया जाता है जो काफी दिनों वाद अदा कर दिया जाता है।

विनिमय के कुछ पेचीदे और दिलचस्प उदाहरण भी हैं। पूर्वी सूदान (अफ्रीका) और युगेण्डा के सीमावर्ती क्षेत्र में डिडिंगा और डोडथ पहाड़ी जातियाँ हैं। परन्तु डोडथ को अव उपजातीय युद्धों के परिणाम स्वरूप मैदानी वनना पड़ा है। अचौली मैदानों के ही रहने वाले हैं और तिरांगोरी और कोकिर आधे पहाड़ी हैं। अव देखिए इनमें वाणिज्य सम्वन्ध किस प्रकार का है।

अचौली किसानी करते हैं। डिडिंगा पशुपालक हैं परन्तु पहाड़ी मिट्टी और जलवायु अनुकूल होने के कारण कुछ खेती भी करते हैं। डोडथ मैदानी होते हुए भी पशुपालक ही रह गये हैं, कुछ इसलिए कि वहाँ की जमीन भी उपजाऊ नहीं है।

कोकिर और तिरांगोरी खेती भी करते हैं और पशुपालन भी, यद्यपि खेती पर वे अधिक जोर देते हैं।

डिंडिगा के पास गाय बैल काफी हैं परन्तु भेड़, बकरी की कमी है जिनकी तादाद वे बढ़ाना चाहते हैं। कोकिर बकरी चाहते हैं। लड़ाई और बीमारी के कारण तिरांगोरी के मवेशी समाप्त प्राय हैं लेकिन भेड़ और बकरियाँ उनके पास काफी तादाद में हैं। राजनैतिक और भौगोलिक परिस्थितियों के कारण डिंडिगा तिरांगोरी से सीधा वाणिज्य नहीं कर सकते। इससे कोकिर को मनचाही सुविधा मिल जाती है। कोकिर डिंडिगा से २८ बकरियों के बदले एक-एक गाय खरीदते हैं यद्यपि मवेशी की उन्हें जरूरत नहीं और बकरियाँ वे खुद लेना चाहते हैं। लेकिन वे केवल बिचौली का काम करते हैं और बिचौले का पुरस्कार प्राप्त करते हैं। जो गायें वे डिंडिगा से खरीदते हैं उन्हें तत्काल साठ-साठ बकरियों के बदले तिरांगोरी को बेच डालते हैं। तीनों सन्तुष्ट हैं क्योंकि अन्त तक जिस चीज की जरूरत है वह हर एक को मिल जाती है।

परन्तु कोकिर इस उपाय से भी डिंडिगा को पर्याप्त संख्या में बकरियाँ नहीं दे सकते क्योंकि बकरी डिंडिगा को केवल अपने इस्तेमाल के लिए ही नहीं बल्कि दूसरों को बेचने के लिए भी चाहिएँ। अलावा इसके वे कोकिर तक ही अपना वाणिज्य सम्बन्ध सीमित नहीं रखना चाहते क्योंकि कोकिर उन्हें हर जरूरत की चीज मुहैया नहीं कर सकता। बकरियों के अलावा उन्हें हथियार और औजार भी चाहिए क्योंकि खनिज पदार्थों से काम करने का हुनर उनमें नहीं है। ये उन्हें अचौली से लेना है

जिनके वदले वे वकरी, शुतुरमुर्ग के पर और अण्डे आदि देते हैं।

अब अचौली को छोड़ कर हम डोडथ पर नजर डालें जिन्हें अनाज की जरूरत है। अनाज वे पैदा नहीं करते लेकिन पहाड़ छोड़कर मैदान आने पर उन्हें अनाज का चस्का लग गया है। डोडथ इसके वदले भेड़ें दे सकता है। डिडिगा उन्हें अनाज देता है। मामूली तौर पर अपनी अतिरिक्त पैदावार से ही वह अनाज दे सकता है लेकिन फसल अच्छी न हो तो अचौली से खरीद कर उसे देना पड़ता है। लेकिन इसका अर्थ यह है कि जरूरत हो या न हो उसे ग्राहक वनाये रखने के लिए हर साल अचौली से अनाज खरीदना पड़ता है क्योंकि डोडथ भी अचौली को वह सामान दे सकता है जो डिडिगा देता है और डिडिगा डोडथ से वाणिज्य सम्वन्ध वनाये न रख सके तो डोडथ सीधे अचौली से वाणज्य करने लग जायगा। विचौले के रूप में डिडिगा अपना मुनाफा खोने का खतरा नहीं ले सकता।

कुल नतीजा यह है कि डिडिगा अचौली से अनाज खरीदते हैं डोडथ के हाथ वेचने के लिए और उनसे वकरियाँ पाने के लिए। कोकिर से वे जरूरत से ज्यादा वकरियाँ खरीदते हैं अचौली के हाथ वेचने के लिए ताकि अचौली के वनाये हथियार और औजार उन्हें मिल सकें। डोडथ, अचौली से सीधा सम्वन्ध स्थापित न कर सके इसलिए अचौली से वे अनाज का वाणिज्य करते रहते हैं। इस प्रक्रिया में, विचोले के रूप में कोकिर और डिडिगा दोनों काफी फायदा उठाते हैं। संक्षेप में विनिमय के द्वारा विभिन्न उपजातियों में एक निश्चित सम्वन्ध कायम हो जाता है जिसकी एक आर्थिक कीमत होती है।

आदिम राजनीति

वान्टू जाति की प्रशासन प्रणाली

आदिम जातियों में आधुनिक ढंग की सरकार भले ही न रही हो लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि आदि समाज में अराजकता थी। आदिम प्रशासन व्यवस्था की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए मैकिवर ने लिखा है—"सरकारी कार्यों की सूची न्यूनतम है। प्रशासकीय अधिकारी यदि हैं भी तो बहुत थोड़े। सरदारों के कर्त्तव्य अविशेष अथवा अस्पष्ट हैं। न्याय प्रशासन की कोई व्यवस्था नहीं भी हो सकती है। कानून या अध्यादेश की जगह रिवाज ही नियन्त्रण का साधन होता है।" वहुतेरे आदिम कवीलों के लिए यह उक्ति सही भी है। लेकिन उनमें भी शासन-व्यवस्था के विभिन्न स्तर हैं। उन्नत स्तरों में से भी किसी पश्चिमी राष्ट्र से उनकी तुलना तो नहीं हो सकती, लेकिन यह लक्ष्य करने की वात है कि दोनों में कार्य प्रणाली का इतना अन्तर नहीं है जितना कि प्रशासकीय रूपों का है। उन्नत आदिम शासन-व्यवस्था का एक अच्छा उदाहरण वान्टू जाति की शासन प्रणाली है।

वान्टू जाति की चार शाखायें हैं—ङ्गूनी, त्सोंगा, सोथो और ह्वेंडा। ङ्गूनी की चार उपशाखायें हैं—केप गूंनी (जनसंख्या २३ लाख ८० हजार) जुलू (जनसंख्या २० लाख ४८ हजार), स्वाजी (जनसंख्या ४ लाख १० हजार) और ट्रांसवाल न्देवल (जनसंख्या १ लाख ४४ हजार)। सोथो की उत्तरी,

दक्षिणी और पश्चिमी तीन उप-शाखायें हैं। पश्चिमी सोथो को त्स्वाना भी कहते हैं। व्हेंडा की संख्या इन सबमें सबसे कम है—१ लाख ३३ हजार। प्रायः सभी आदिम जातियों की भाँति वान्टू जाति की शासन-प्रणाली का केन्द्र-बिन्दु सरदार ही है, लेकिन उसके कर्तव्यों और अधिकारों की एक स्पष्ट रूपरेखा है। आधुनिक परिभाषाओं के अनुसार भी उनकी शासन-व्यवस्था को राष्ट्रीय व्यवस्था का नाम दिया जा सकता है। राष्ट्रीय व्यवस्था की बुनियादी बात है निर्धारित क्षेत्र के अन्तर्गत सम्पूर्ण प्रभुसत्ता। वान्टू राज्य का भी एक निर्धारित क्षेत्र है और उसकी सीमाओं के अन्दर कोई बाहरी व्यक्ति हस्तक्षेप नहीं कर सकता। सरदार के अधीन बहुतेरे प्रशासकीय अधिकारी हैं जिनमें निम्नतर स्थानीय अधिकारियों के भी कई स्तर हैं। न्याय-प्रशासन की एक सुसंगठित व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत विभिन्न स्तरों की अदालतें शामिल हैं और सरदार ही सर्वोच्च न्यायाधिकारी है। प्रचलित प्रथाओं को नये कानून अथवा अन्य उपायों के द्वारा बदलने की क्षमता भी सरदार को प्राप्त है। आधुनिक राष्ट्रों में सरकार के मुख्य काम हैं—आन्तरिक शांति और अनुशासन बनाए रखना, न्याय प्रशासन करना, बाहरी शत्रुओं के विरुद्ध सुरक्षा का आयोजन करना और बाहरी जातियों, राष्ट्रों अथवा समूहों से औपचारिक सम्बन्ध बनाये रखना। वान्टू सरदार भी इन सब कार्यों को सम्पन्न करता है।

आधुनिक सरकारों ने इन मुख्य कामों के अतिरिक्त कुछ अन्य जिम्मेदारियाँ भी अपने ऊपर ले रखी है; उदाहरणार्थ,

वे वस्तुओं के उत्पादन तथा वितरण को नियन्त्रित करती हैं, स्वत्वाधिकार-विहीन प्राकृतिक सम्पदाओं का संरक्षण करती हैं, परिवहन, संवहन, ईंधन और जल का प्रबन्ध करती हैं तथा स्वास्थ्य, शिक्षा और दरिद्रों की सहायता आदि सेवाएँ भी करती हैं। इतने बड़े पैमाने पर चाहे न हो परन्तु तुलनात्मक सुविधाएँ वान्टू में राज्य भी दी जाती हैं। वान्टू सरदार का यह पहला कर्तव्य है कि प्रत्येक परिवार को वह रहने तथा खेती करने के लिए जमीन दे। यदि किसी को जमीन नहीं मिल पाती तो वह सारी जमीन का पुनर्विभाजन करता है। जन-निर्गमन अथवा सामूहिक शिकार का आयोजन भी सरदार स्वयं संगठित करता है अथवा तत्सम्बन्धी निर्देश देता है। समय-समय पर जंगलों का वह निरीक्षण करता है, वृक्ष विशेषों का काटना वह बन्द कर सकता है और खेती के प्रारम्भ या अंत की तिथियों का निर्देश भी देता है। इस प्रकार प्राकृतिक सम्प्रदाओं के संरक्षण का कार्य भी वह एक सीमा तक सम्पन्न करता है। वह दरिद्रों की सहायता भी करता है और विभिन्न उपायों से अपनी सम्पत्ति का नियोग सार्वजनिक लाभ के लिए करता है। समय-समय पर जब सरदार का दरबार होता है तो दरबारियों के भोजन का प्रबन्ध वह स्वयं करता है और उत्सव आदि पर एकत्रित सम्पूर्ण जनसमूह के लिए भी वह भोजन की व्यवस्था करता है। अपने मवेशियों को—मवेशी उसकी सम्पत्तियों में से एक मुख्य सम्पत्ति है—वह अन्य लोगों को कर्ज के रूप में भी दिया करता है। इन सब कामों के अलावा वह कुछ धार्मिक तथा जादू के कृत्यों का भी अनुष्ठान करता है जिनका आग्रु-

निक राष्ट्रों में कोई स्थान नहीं है। वास्तव में वह अपनी जाति का प्रधान पुरोहित तथा प्रधान जादूगर भी होता है। विशेषकर गूनी और त्सोंगा पहली फसल का एक बड़ा और दर्शनीय उत्सव होता है जो कई दिनों तक चलता है। राजधानी पर सारा कबीला एकत्रित होता है और वहाँ जादू विद्या से सरदार को सशक्त किया जाता है और सम्पूर्ण सेना को भी जादू से अजेय बनाया जाता है और सैनिक सज-धज कर नाचते-गाते हैं। कई कबीलों में बोने के मौसम का प्रारम्भ भी सरदार करता है। वह औषधि-युक्त बीज का वितरण करता है जिसे जनता फसल की वृद्धि के लिए अपने बीजों में मिला देती है। सरदार से यह भी आशा की जाती है कि वह उपयुक्त वर्षा का प्रबन्ध भी कर देगा। त्स्वाना, उत्तरी सोथो और स्वाजी में वह प्रतिवर्ष वर्षोत्सव का संगठन करता है। अन्यत्र सूखा पड़ने पर और जनता के प्रत्यक्ष अनुरोध पर ही वह इस प्रकार का अनुष्ठान करता है।

न्याय-विधान बान्टू शासकों का एक प्रधान कर्त्तव्य है। कानूनी जाब्ता की एक सुविकसित प्रथा है। दीवानी और फौजदारी अपराधों का एक व्यावहारिक विभेद भी उनमें किया जाता है। व्यक्तिगत हैसियत, व्यक्तिगत सम्पत्ति और ठेका, सौदा आदि के सम्बन्ध में व्यक्तिगत अधिकारों का उल्लंघन करने वालों को मुआवजा देने के लिये बाध्य किया जाता है। चोरी, छिनाली, क़र्ज की नाअदायगी आदि इसी श्रेणी के अन्दर पड़ते हैं। जिसके प्रति अन्याय हुआ हो वही पहला कदम उठाता है। पहले वह परस्पर बातचीत की कोशिश से

ही फैसले की चेष्टा करता है। वादी और प्रतिवादी दोनों के रिश्तेदारों की एक बैठक, प्रतिपक्ष के एक वयोज्येष्ठ सम्बन्धी की अध्यक्षता में होती है। यदि इसमें वादी को सफलता न मिले तो प्रतिवादी के मुखिया के समक्ष वह औप-चारिक रूप से अपनी शिकायत पेश करता है। वह सुनवाई की एक तारीख की घोषणा करता है। कहीं-कहीं अदालत खोलने के मेहनताना के रूप में एक बकरी या भेड़ देने की भी प्रथा है। मुकदमे में वादी हरजाने की अपनी माँग रखता है। मुकदमे में उसकी विजय हो तो हरजाने की पूरी या आंशिक रकम उसे मिल जाती है। यदि अन्यायकारी का वर्ताव बहुत बुरा रहा हो तो हरजाना देने के अतिरिक्त उसे सजा भी मिल सकती है। फौजदारी अपराधों में, शासकों के विरुद्ध अपराध, सरदार द्वारा बनाये कानूनों का उल्लंघन, अवैध विवाह, हत्या या खून-खराबी के अन्य अपराध शामिल हैं। इन मामलों में कोई आपसी समझौता नहीं हो सकता है। निकटस्थ स्थानीय शासक को इनकी सूचना देना जरूरी है। उसकी गिरफ्तारी और उस पर मुकदमा चलाना शासक की जिम्मेदारी है। जुर्माने में मवेशी ले लेना एक साधारण सजा है। एक जानवर से लेकर अपराधी की सारी सम्पत्ति तक की जब्ती हो सकती है। यह अपराध की किस्म, अपराधी की सामाजिक हैसियत और उसके पिछले इतिहास पर निर्भर है। सोथो और त्सोगा उपजातियों में वैकल्पिक अथवा अतिरिक्त सजा के रूप में शारीरिक दण्ड भी दिया जाता है। राजनीतिक अपराधियों को उनके घरों से हटाकर अन्यत्र रख दिया जाता

है ताकि विघटनकारी कार्य करने की उन्हें सुविधा न मिल सके। किसी को भी वन्दी नहीं वनाया जाता और जादू-टोना के मामलों के अलावा निर्वासन भी शायद ही किसी का किया जाता है, परन्तु कुछ कवीलों में वारम्वार अपराध करने वालों का हाथ या कान काट दिया जाता है। जादू-टोना, देश-द्रोह या कत्ल आदि संगीन जुर्मों के लिए मौत या निर्वासन की सजा दी जाती है, साथ ही अपराधी की सारी सम्पत्ति भी प्राय: जब्त कर ली जाती है। जब जुर्माना अदा किया जाता है तो एक जानवर का वलिदान अदालती लोगों के लिए किया जाता है, लेकिन वाकी न्यायाधीश का होता है। दीवानी मुकदमे की सुनवाई का अधिकार सभी अदालतों को है, लेकिन कोई मुकदमा पेचीदा हो या मामला अधिक सम्पत्ति से सम्वन्धित हो तो मामला ऊपर वालों को भेज दिया जाता है। फौजदारी मामलों की सुनवाई मुखिया भी कर सकता है। कोई सजा देने का उसे अधिकार नहीं है। इसलिये मामला तनिक भी संगीन हो तो प्राथमिक जांच-पड़ताल के वाद वह उप-सरदार आदि वड़े हाकिमों के पास उसे पेश कर देता है मौत या निर्वासन की सजा एकमात्र सरदार ही दे सकता है।

जरूरत पड़ने पर ही अदालतों की वैठक होती है। संवंधित लोगों को एकत्र होने के लिये पर्याप्त समय दिया जाता है। जन-साधारण को अदालती कार्यवाही सुनने का हक होता ही है, वे उसमें भाग भी ले सकते हैं। आधुनिक अदालतों की तरह दोनों पक्षों के वयान और उनकी तथा उनके गवाहों की जिरह के वाद उपस्थित जनों की राय जानने के लिये वहस

छिड़ जाती है। तत्पश्चात् न्यायाधीश के सलाहकार मुकदमे की समीक्षा करते हैं, परन्तु अन्तिम फैसला न्यायाधीश का ही होता है। न्यायाधीश के फैसले के विरुद्ध अपील भी हो सकती है। अधिकांश में अपील सरदार की अदालत में की जाती है जहाँ पूरे मुकदमे की फिर से सुनवाई होती है। सरदार का फैसला अन्तिम होता है लेकिन कभी-कभी सजा घटाने के लिये किसी वयोज्येष्ठ दरबारी से भी अपराधी अपील करता है। सरदार से दरबारी के कहने का तरीका यह होता है—"शेर खाये लेकिन हड्डियाँ तो छोड़ दे" अर्थात् सरदार अत्यधिक सख्ती न करे। सजा घटायी जाना जरूरी नहीं है, लेकिन कभी-कभी घटा भी दी जाती है।

सारे कबीले का सरदार तो एक ही होता है. परन्तु एक विस्तृत क्षेत्र में फैले हुए कबीले का क्षेत्रीय विभाजन भी रहता है। हर क्षेत्र का एक प्रधान होता है और वह सरदार के अधीन होता है। इनकी अक्सर दो श्रेणियाँ होती हैं। बड़े क्षेत्र का प्रधान उप-सरदार होता है और छोटे क्षेत्रों का मुखिया भी होता है। स्थानीय अधीनस्थ कर्मचारियों के अतिरिक्त सरदार के कई प्रकार के सहायक होते हैं। इन सहायकों को दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। कुछ तो सलाहकार होते हैं जो नीति निर्धारित करने में सरदार की सहायता करते हैं और कुछ ऐसे जो दैनिक कार्यों में सरदार की सहायता करते हैं अथवा उनकी आज्ञाओं का पालन करते हैं। कभी-कभी एक ही व्यक्ति दोनों हैसियतों से काम करता है। कुछ ऐसे हैं जिन्हें गुप्त परामर्शदाता कहा जा सकता है।

ये प्रायः सरदार के सम्बन्धी होते हैं जिनसे सरदार प्रायः परामर्श लिया करता है। इनकी कोई पृथक् संस्था नहीं है और उनकी संख्या निश्चित भी नहीं होती है। त्स्वाना कबीला में इनकी संख्या ६ से १२ तक होती है। इसके अलावा एक औपचारिक परिषद् भी है जिसे महत्वपूर्ण सार्वजनिक प्रश्नों पर विचार करने के लिये बुलाया जाता है। यह परिषद् एक प्रकार से सारे कबीले का प्रतिनिधित्व करती है, क्योंकि इसमें उप सरदार और महत्वपूर्ण मुखियों के अलावा अन्य प्रभावशाली व्यक्ति भी होते हैं। साल में एक बार से अधिक परिषद् की बैठक नहीं होती है और प्रायः अवधि इससे और लम्बी होती है। परिषद् का निर्णय सर्वमान्य होता है। सोथो और त्स्वाना उप जातियों में बैठक केवल परिषद् की न होकर सारे कबीले की होती है। यही प्रशासकीय नमूना स्थानीय सरकारों के लिए भी होता है। सरदार की कार्यकारिणी अथवा आज्ञावाहक अधिकारियों में सबसे बड़ा इंडुना होता है जिसके अधीन और कर्मचारी होते हैं। वह एक प्रकार से कबीले तथा सरकार के बीच का मध्यस्थ है और कभी-कभी सरदार की जगह भी काम करता है। विभिन्न उम्र वालों के अलग-अलग फौजी जत्थे भी होते हैं और प्रायः कम उम्र वाले जत्थे से सरदार सार्वजनिक काम भी लिया करता है।

सरदार का पद पुश्तैनी होता है। उसकी बीबी का सबसे बड़ा लड़का ही उसका उत्तराधिकारी होता है। फिर भी पद-ग्रहण झगड़े से खाली नहीं होता। उत्तराधिकारी नाबालिग हो तो उसका सौतेला बड़ा भाई या चाचा या परिवार-गोष्ठी

द्वारा निर्वाचित कोई व्यक्ति सरदार के प्रतिनिधि के रूप में
शासन करता है और हो सकता है कि आगे चलकर वह
वास्तविक उत्तराधिकारी को गद्दी से वंचित करने की चेष्टा
करे। कभी-कभी उत्तराधिकारी की घोषणा नहीं की जाती
है और सरदार की मृत्यु पर खबर छिपा कर रखी जाती है,
जब तक कि उसके वयोज्येष्ठ रिश्तेदार और अन्य महत्वपूर्ण
सलाहकार मिलकर नये उत्तराधिकारी का चुनाव नहीं कर
लेते। कभी-कभी सरदार की अन्य पत्नियों के लड़के उत्तरा-
धिकार के लिए लड़ाई ठान देते हैं। सरदार स्वयं अत्याचारी,
लोभी या कंजूस हो तो उसकी हत्या की घटनाएँ भी इतिहास
में मिलती हैं। कभी-कभी ऐसा भी हुआ है कि एक दुःखी
वर्ग ने राज्य का त्याग कर दिया और कहीं अन्यत्र जाकर
शरण ली। प्रायः इन वर्गों का नेतृत्व भी सरदार का कोई
रिश्तेदार ही करता है। सरदार कबीले का सब से धनी व्यक्ति
होता है, क्योंकि सब से अच्छी और बड़ी जमीन तो उसकी
होती ही है, इसके अलावा वह कई प्रकार के करों का भी
अधिकारी होता है। किन्तु यह सारी सम्पत्ति उसके निजी
भोग के लिए नहीं होती है; उससे यह आशा की जाती है कि
सार्वजनिक उपयोग के लिये भी वह अपनी सम्पत्ति का प्रयोग
करेगा। वास्तव में इस प्रकार के प्रयोग से अनेक लोग लाभ
उठाते हैं। उसकी विशाल सम्पत्ति के कारण, उस सम्पत्ति से
लाभ उठाने के कारण, उस सरदार तथा मुखियों में उसके
अपने रिश्तेदार होने के कारण और सरदार के प्रति जनता
में अनन्य भक्ति के कारण सरदार को अपनी आज्ञाओं का

पालन कराने में कोई कठिनाई नहीं होती है। यही कारण है कि आज की पुलिस-व्यवस्था के अभाव में भी वान्टू राज्य का प्रशासन सुचारुरूप से चलता है। विरले ही कभी सरदार की आज्ञा का विरोध होता है और जब होता है तो विशेष उम्र वाले फौजी जत्थे की एक टुकड़ी के प्रयोग से ही विरोध का अन्त संभव होता है। ऐसे मामलों में विरोधियों की हत्या और उनकी घर-सम्पत्ति का जलाया जाना असम्भव नहीं है।

यहाँ, पास पड़ोस की अन्य अफ्रीकन आदिम जातियों की शासन प्रणालियों की एक तुलनात्मक संक्षिप्त आलोचना असंगत न होगी। हाटेनटाट शासन-प्रणाली मूलतः वान्टू प्रणाली से भिन्न नहीं है, यद्यपि सरदार की कार्य-सूची और क्षमता और अधिकार आपेक्षिक रूप से संकुचित और सीमित हैं। वर्गडामा और बुशमैन जातियों में सरदार तो कोई न कोई होता है, लेकिन शासन-प्रणाली का कोई विस्तृत रूप नहीं है। इन चारों जातियों में सरदार तथा जनता के बीच परामर्श की एक सुसंगठित व्यवस्था अवश्य ही होती है। वर्गडामा और बुशमैन में सामूहिक विचार की ही प्रथा है। इस अर्थ में इन दक्षिण अफ्रीकी शासन-व्यवस्थाओं की अन्य आदिम राजनीतिक व्यवस्थाओं से एक भिन्नता है। उत्तरी अमेरिका की इरोकोआ जाति में पचास सरदारों की एक संघीय परिषद् है। मेलानीसिया जाति में एक सरदार धार्मिक कृत्यों के लिए होता है और दूसरा प्रशासन के लिए। आस्ट्रे-लिया तथा पूर्वी-अफ्रीका के कुछ भागों में दीक्षा प्राप्त सभी वयोज्येष्ठ शासन-परिषद् के सदस्य होते हैं। अन्दमान-निवासी

आदिम जातियों में कोई प्रशासकीय नेता होते ही नहीं।

वान्टू शासन-प्रणाली के विस्तार और वैचित्र्य का एक बड़ा कारण यह है कि वे मवेशी-पालन के अतिरिक्त खेती भी करते हैं और इस कारण वे एक ही स्थान में निवास करते हैं, घूमते फिरते नहीं रहते। राज्य के विस्तार के द्वारा अन्य जातियों का उसमें समावेश इसमें एक और कारण है। हाटेनटाट अधिकांश मवेशियों का पालन करते हैं और प्रकृतिदत्त खाद्य का भी संग्रह करते हैं। वर्गडामा और बुशमैन केवल प्रकृतिदत्त खाद्य का संग्रह करते हैं। इस प्रकार शासन-प्रणाली की भिन्नताओं से जीविका के विभिन्न उपायों का भी एक सम्बन्ध जान पड़ता है। बहरहाल आदिम राजनीति का एक ही स्वरूप नहीं है, बल्कि विभिन्न स्थानों में उसके विभिन्न रूप हैं।

आदिम मानव समाज में न्याय

आदिम मानव समाज में पुलिस, अदालत या फौज नहीं थी। आधुनिक सभ्य समाज के लिए यह कल्पना करना कठिन है कि इनके विना आदिम समाज में न्याय का अस्तित्व कैसे सम्भव था। परन्तु मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि जहां समाज में दण्ड व्यवस्था है वहाँ न्याय भी है। दण्ड का अर्थ यह है कि यदि यह समझा जाय कि किसी ने सामाजिक नियम भंग किया है तो उसे कष्ट भोगना पड़े। इसी से कानून की यह परिभाषा की जा सकती है कि वह सामाजिक नियम है जिसके भंग करने पर दण्ड देने की प्रथा हो। परन्तु कानून और दण्ड की प्रथा सम्भव इसीलिए है कि समाज के अधिकांश सदस्य सामाजिक नियम का पालन करते हैं। साथ ही यदि प्रत्येक व्यक्ति अभ्यासवश सामाजिक नियमों का पालन करे तो कानूनों की कोई आवश्यकता ही नहीं हो सकती है। आदिम समाज में प्रचलित कानूनों की खोज निकालना कठिन इसलिए है कि आदिम मानव सामाजिक नियमों को भंग करने की कल्पना भी नहीं कर सकता था।

आदिम समाज में रिवाज ही राजा या अत्याचारी शासक हुआ करता था। परिणामों की परवाह किये विना परम्परागत अभ्यासों को कायम रखने के सामाजिक अभ्यास को ही रिवाज का नाम दिया जाता है। इन अभ्यासों में परिवर्तन होना अनिवार्य है और परिवर्तन होते भी हैं, परन्तु समझा

कहा जाता है कि परिवर्तन हो नहीं सकता। रिवाजों के प्रति अनन्य श्रद्धा के अच्छे बुरे दोनों पहलू हैं। इससे अनुशासन के तत्व को बल मिलता है, जिसके बिना कोई भी समाज टूट जायगा। किसी बर्बर के सम्बन्ध में हम यह कल्पना करते हैं कि क्षण में वह मित्र होता है और क्षण भर में ही शैतान। वह इसी तरह का सनकमिजाज हो भी सकता था यदि रिवाजों के सामाजिक व्यायाम के अन्दर से उसे गुजरना न पड़ता। आज भी जहाँ आदिम समाज स्वस्थ और अछूती अवस्था में है, यह देखा जा सकता है कि लोग अपने कानूनों के अनुसार किसी भी सभ्य समाज के सदस्यों की अपेक्षा अधिक कानूननिष्ठ हैं। परम्पराओं का बुरा पहलू यह है कि रिवाज कितना ही युक्तिहीन या बुरा हो, वह बना ही रहता है। सर ई० टाइलर ने बोर्नियो द्वीप की डायाक जाति के सम्बन्ध में वर्णन किया है कि पेड़ काटने का श्वेत जातियों का तरीका डायाक रिवाज के अनुकूल नहीं समझा जाता। कोई डायाक यूरोपीय तरीके का अनुकरण करता तो उस पर जुर्माना किया जाता था। लेकिन उन्हें पूरा विश्वास था कि यूरोपीय तरीका उनके तरीके से बेहतर था और उन्हें यह यकीन था कि कोई चुगली न करे तो वे चोरी-चोरी उसी तरीके को अपनाते। डायाकों के सम्बन्ध में एक विज्ञ मानव शास्त्रविद श्री वालेस का कहना है कि वे बर्बरों में अति सदाशय प्रकृति के होते हैं। ये शान्त और मृदु स्वभाव के होते हैं और दैनिक जीवन में उनमें रक्त पिपासा बिलकुल भी दिखाई नहीं पड़ती। लेकिन इसी जाति में नर-मुंड

शिकार का भी रिवाज है। परंतु इस संवंध में भी श्री वालेस का यही कहना है कि एक रिवाज के रूप में इसका पालन किया जाता है, यह अत्यधिक वर्वरता या नैतिक अधोगति का द्योतक नहीं है।

आदिम समाज में रिवाज का असीम आधिपत्य होते हुए भी कभी कभी नियम तो भंग होते ही हैं। उन्मत्तता के आवेग में कभी कोई कुछ कर वैठता है और कुछ अनहोनी हो जाती है। अव देखिये कि ऐसे अवसर पर अंडमान द्वीप की नेग्रिटो जाति में क्या होता है। उनमें न्याय की सीधी प्रथा यह है कि हानिग्रस्त पक्ष को कानून अपने हाथ में लेने की अनुमति दी जाती है। साधारणतया वह अपराधी को लक्ष्य कर एक जलती लुआठी फेंकता है या तीर चलाता है। इस वीच वाकी जो लोग वहाँ उपस्थित होते हैं वे जितनी सम्पत्ति सम्भव हो अपने साथ लेकर जंगलों में भाग कर काफी देर तक छिपे रहते हैं, जव तक झगड़ा शायद समाप्त हो जाता है। यदि उस झगड़े में कोई किसी को मार डाले तो उससे कोई कुछ नहीं कहता। लेकिन कातिल ही प्रायः एक अरसे तक अदृश्य रहता है ताकि हत व्यक्ति के मित्रों का रोष ठंडा पड़ जाय। लेकिन उपजातियाँ जहाँ सुसंगठित हैं वहाँ खून के वदले खून एक सामाजिक कर्त्तव्य है। यह जरूरी नहीं कि हत्या करने वाले की ही हत्या की जाय, दूसरे पक्ष के किसी एक की हत्या करना सवक सिखाने के लिए जरूरी समझा जाता है। यह सामूहिक जिम्मेदारी का एक उदाहरण है। इसी से धीरे-धीरे व्यक्तिगत जिम्मेदारी की उत्पत्ति होती है। द्वन्द्वयुद्ध

इसका एक उदाहरण है। धीरे-धीरे द्वन्द्वयुद्ध का असन्तोष-जनक परिणाम भी नजर आने लगता है, क्योंकि कोई अधिक बलशाली हो तो एक हत्या के बाद उसे दूसरी हत्या का एक मौका मिल जाता है।

आस्ट्रेलिया की कुछ आदिम जातियों में यह रिवाज है कि हत्यारे को निहत व्यक्ति के दल के तीर और बल्लम के बौछारों का सामना करना पड़ता है, परन्तु बदला वहीं खत्म हो जाता है। हत्यारे के सौभाग्य से, कभी-कभी उसके दण्ड भुगतने के पहले काफी समय बीत जाता है और तब रोष का आवेग शान्त हो जाता है। हम कभी-कभी जैसे कल्पना कर लेते हैं, असभ्य जातियाँ उतनी खून की प्यासी नहीं होती हैं। जैसे युद्ध का विकास हुआ है उसी प्रकार जान के लिए जान की जगह मुआवजे का भी विकास हुआ है। आदिम जातियों के रिवाज दोनों के बीच के स्तर में पाये जाते हैं। कातिल जल्दी पकड़ा जाय तो उसकी जान ली जाती है, कुछ समय बीत जाये तो जुरमाने से ही उसे छुट्टी मिल जाती है। व्यक्तिगत सम्पत्ति के विकास के साथ हत्या-जनित जुर्माने का रूप भी विशद हो जाता है। अमेरिका की इरोकोआ जाति में हत्यारे को निहत व्यक्तियों के सम्बन्धियों को ६० उपहार देने पड़ते हैं—एक जख्म से कुल्हाड़ी निकालने वाले को, दूसरा खून पोंछने वाले को, तीसरा शान्ति स्थापित करने वाले को इत्यादि।

दण्ड-व्यवस्था की सामूहिक जिम्मेदारी के स्थान पर धीरे-धीरे सरदारों या मुखियों के आदेशों को प्रधानता मिलने

लगी। उत्तर अफ्रीका या अमेरिका में सरकार ही दण्डादेश करती है परन्तु उसे लागू करने की जिम्मेदारी परिवार, विशेष या परिवार पर होती है। हो सकता है कि दण्डादेश का अधिकार सम्वन्धियों को दिया जाय परन्तु अधिकारी वर्ग ही दण्ड-विधि का आदेश देता है और सम्वन्धियों को उस विधि का पालन करना पड़ता है।

अवीसीनिया में हत व्यक्ति का निकटतम सम्वन्धी, हत्यारे का वध, राजा के सामने, उसी हथियार से करता है जिससे कि हत्या की गई हो। हो सकता है कि दण्डाधिकार नाममात्र के लिए ही हो। अफगानिस्तान में वड़े-वूढ़े अपराधी को वादियों के हाथ समर्पित करने का एक दिखावा करते हैं परन्तु उन्हें उपस्थित जनों की इच्छा के अनुसार ही काम करना पड़ता है। सामोआ में अपराधी को वाँध कर परिवार के सामने डाल दिया जाता था मानो कि उसका भाग्य उनकी इच्छाओं को सौंप दिया गया हो परन्तु अन्तिम निर्णय सरकार ही करती थी।

पर-नारी-गमन-जनित अपराध का स्थान हत्या के वाद ही और प्रायः उसके समान ही है। तज्जनित दण्ड-व्यवस्था का विकास भी उसी प्रकार हुआ है जैसाकि हत्या के दण्ड का, अर्थात् पहले उपजातियों के वीच सामूहिक युद्ध, तत्पश्चात् द्वन्द्वयुद्ध, फिर अकेले अपराधी का और समूह का सामना। इसी प्रकार प्राणदण्ड के स्थान पर जुर्माना। परन्तु एक अन्तर भी माना जाता है।

हत्या, सरकार की हकूमत के विरुद्ध एक अपराध गिना

जाता है परन्तु पर-नारी-गमन या चोरी व्यक्तिगत सम्पत्ति के विरुद्ध एक अपराध ठहराया जाता है। काफिर जाति के कानून में यह फर्क स्पष्ट दिखाया गया है। लक्ष्य करने की बात यह है कि जिन जातियों में मातृकुल को प्रधानता दी जाती है, उनमें कोई नारी पर-पुरुष-गमन करे तो प्रायः वह दण्ड की भागी नहीं होती है। पति पत्नी के कुल में निवास करे तो यह प्रायः निश्चय ही है कि नारी ही पुरुष की अवज्ञा कर सकती है। परन्तु पत्नी यदि पति के कुल में ही रहती हो तो भी उसे अपने कुल का संरक्षण प्राप्त होता है।

जहाँ तक चोरी का सम्बन्ध है, आदिम जातियों में व्यक्तिगत सम्पत्ति ही प्रायः नहीं के बराबर होती है जिसकी चोरी हो सके, हाँ, पशु या मछली के शिकार के सम्बन्ध में बँटवारे के विवाद सम्भव हैं जिसका निपटारा बड़े-बूढ़े करते हैं। परन्तु व्यक्ति विशेष पर लांछन लगाने की बात भिन्न है। इससे विवाद की उत्पत्ति हो सकती है। काफिर कानून के अनुसार इस पर हरजाने का दावा हो सकता है। एतत्सम्बन्धी विवादों की निष्पत्ति के लिए बा-निन्दो जाति में मेल-जोल कराने वालों की एक विशेष संस्था है। सार्वजनिक हित के विरुद्ध अपराध एक भिन्न श्रेणी का अपराध है। सैनिक अनुशासन भी इसी श्रेणी के अन्दर पड़ता है। जब पूरी जाति लड़ाई के मैदान में उतरती है तो लड़ाई से विमुख रहने वालों को कायर समझा जाता है। अमेरिकी आदिम जातियों में इस अपराध के विरुद्ध दण्ड की प्रथा यह है कि कायर के हथियार छीन लिये जाते हैं और उसे कुत्ते के साथ भोजन करना पड़ता है। विश्वास-

घातकों की तो क्रूर हत्या की जाती है।

सामूहिक सुरक्षा के क्षेत्र में अन्य जातियों द्वारा आक्रमण के खतरे के अलावा भूतप्रेत के अथवा अन्य रहस्यमय खतरों को ही एक वड़ा स्थान प्राप्त है। असगुन का एक भय उन्हें हर समय सताता रहता है। उनके अनुसार दुर्भाग्य एक संक्रामक रोग है। पडोसी कोई असगुन लाने वाला काम करता है तो पड़ोसियों पर वह असर डाले विना नहीं रह सकता। उस पाप को धोना, अर्थात् विधि-निषेधों के भंग करने वालों को दण्ड देना एक सामूहिक कर्त्तव्य हो जाता है। उदाहरणस्वरूप स्वजाति में विवाह करना एक वहुत वड़ा असगुन माना जाता है और अपराधी का मृत्यु दण्ड अनिवार्य है। इसी प्रकार जादू टोना भी, यदि किसी की हानि करना उसका उद्देश्य है, एक वड़ा अपराध है।

वस्तुतः रिवाजों के इस घेरे में से निकल कर नैतिक वुद्धि की प्रतिष्ठा करने में मनुष्य को हजारों वर्ष लग गये। वर्वरता का युग पार करने पर ही मनुष्य के लिए नीति और न्याय के वीच एक सम्बन्ध स्थापित करना सम्भव हो सका। परन्तु यही कारण है कि आज के मानदण्डों से आदिम समाज का विचार नहीं किया जा सकता।

सांस्कृतिक विशिष्टताएँ

आदिम जातियों की संस्कृति एक नहीं है। यहाँ संस्कृति
का तात्पर्य मकान, औजार, उत्पादन प्रणाली आदि से नहीं
वल्कि मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण से है। पास-पड़ोस
में भी भिन्न वल्कि विपरीत संस्कृतियाँ दिखाई पड़ती हैं। इन
साँस्कृतिक विशेषताओं का प्रभाव उन आदिम जातियों के
जीवन-दर्शन और सामाजिक आचरण पर पड़ा है।

उदाहरण के लिए उत्तर अमेरिका की पेवलो जाति और
पड़ोसी पीमा में कोई भौगोलिक व्यवधान नहीं है लेकिन दोनों
की परम्पराओं में है। संयम, पेवलो आचरण और रीति रिवाज
की मुख्य विशेषता है जैसे कि उग्र मनोभावना पेवलो की
पड़ोसी जातियों की विशेषता है। अन्त्येष्टि क्रिया में इसका
सब से अच्छा उदाहरण मिलता है।

पेवलो के पड़ोस के मैदान में मृत्यु के अवसर पर उथल-
पुथल हो जाती है। रोने-पीटने में अति तो होती है, साथ ही
औरतें सिर भी फोड़ लेती हैं, उँगली या पैर काट लेती हैं और
नंगे पैरों से खून वहाती हुई वे दलवद्ध होकर शिविर के पास
होकर कूच करती हैं। मरने पर शव कुटिया से निकाल लिया
जाता है और कुटिया के सारे सामान वाहर फेंक दिये जाते हैं।
रिश्तेदारों के अलावा वाकी लोग इन चीजों को उठा भी ले
जा सकते हैं। वेवा औरत के पास एक कम्वल छोड़ कर और
कुछ नहीं रह जाता है। मृत व्यक्ति के सब से अच्छे घोड़ों की

भी कब्र पर हत्या कर दी जाती है। पत्नी और पुत्री को कब्र के पास चौबीस घण्टे बिना खाये-पीये रहना पड़ता है। किसी बच्चे की मृत्यु हो तो माता-पिता में से कोई एक खुदकुशी भी कर लेता है। स्पष्ट है कि यह शोक भी उग्र है।

पेवलो अन्त्येष्टि क्रिया बिल्कुल भिन्न है। पुरोहित आकर मृतक को नहलाता है और उसके बाल झाड़ देता है। फिर वह मृत व्यक्ति के चेहरे पर सामाजिक हैसियत संबंधी चिह्न रंग देता है। इसके बाद हर रिश्तेदार एक मोमबत्ती लेकर लाश के पास रखता है। तब पुरोहित जिसे काली अनाज माता कहा जाता है, शव के पास प्रार्थना करता है। अब सब रिश्तेदार लौट जाते हैं और पुरोहित बायें हाथ से—जो भूत प्रेत आदि से संबंधित है—शव को खाना खिलाकर कमरे में एक वेदी बनाता है। रिश्तेदार इसके बाद केवल एक बार और आते हैं। लाश को कंघी करने से जो मैल निकलता है उसकी छोटी-छोटी गोलियाँ बना कर उन्हें सुँघाया जाता है। इसका तात्पर्य यह माना जाता है कि इस प्रक्रिया से मृत व्यक्ति की याद बिल्कुल भूल जाती है। शव दूसरे ही दिन दफना दिया जाता है लेकिन परिवार के सदस्य और रिश्तेदार चार दिन अछूत बने रहते हैं। चौथे दिन शव के लिए भोजन गाड़ कर अन्त्येष्टि क्रिया की समाप्ति होती है। इसके लिए वे गाँव से बाहर जाते हैं और जिस घड़े में पानी भर कर ले जाते हैं उसे फोड़ डालते हैं। वह कंघी भी तोड़ डाली जाती है जिससे मृतक के बाल साफ किये गये थे। वहाँ से लौटते हुए रास्ते में पत्थर की छुरी से एक दाग काट दिया जाता है। उन्हें मृत व्यक्ति के पैरों की

आवाज भी सुनाई पड़ती है जो उस स्थान पर आता है जहाँ उसके लिए भोजन दिया गया है। इस बीच मृत व्यक्ति के घर में लोग परिवार के सदस्यों के लौटने की प्रतीक्षा करते हैं। पुरोहित उन्हें उपदेश देता है और बताता है कि मृत व्यक्ति बस अब आखिरी बार आ चुका। परिवार को आनुष्ठानिक शुद्धता के लिए आठ दिन और निषेधों का पालन करना पड़ता है। इसके बाद मृत व्यक्ति बिलकुल भुला दिया जाता है। यह अनुष्ठान संयम का मूर्त रूप है।

दक्षिण अमेरिका या अफ्रीका का रिवाज उत्तर अमेरिका के दोनों रिवाजों से भिन्न है। उत्तर अमेरिका के रिवाजों में भिन्नता होते हुए भी दोनों का बल मृत्यु जनित हानि पर है। इनके विपरीत अफ्रीका या दक्षिण अमेरिका में मृत व्यक्ति की प्रेतात्मा द्वारा बदला लेने की आशंका को ही जीवित व्यक्तियों के मन में प्रधान स्थान मिला हुआ है। जो व्यक्ति मर गया वह जिन्दों के प्रति विद्वेष की भावना रखता है। उसकी विद्वेष या प्रतिशोध की भावना से बचना ही अन्त्येष्टि क्रिया का मुख्य उद्देश्य होता है। जिस कुटिया में उसकी मृत्यु हुई उसमें से सामान ही बाहर फेंक नहीं दिया जाता बल्कि वह कुटिया भी तोड़ फोड़ डाली जाती है। मृत व्यक्ति का परिवार चार दिन उपवास रखता है और इस बीच एक रखवाला राहगीरों को चेतावनी देता है कि कुटिया और कब्र के बीच के रास्ते होकर वे न गुजरें। नावाहो जाति में प्रेतात्मा के लौटने का बहुत भय होता है। ऐसा समझा जाता है कि चार दिन के पहले ही परिवार का कोई सदस्य उपवास तोड़ दे या मौन भंग

करे तो प्रेतात्मा को लौटने का रास्ता मिल जाता है।

एक आम रिवाज यह है कि मृत व्यक्ति के साथ उसके हथियार भी दफना दिये जाते हैं। उनका यह विश्वास है कि मृत व्यक्ति को पातालपुरी में जाते हुए भयंकर शत्रुओं का सामना करना पड़ता है जो सिर फोड़ डालते हैं। प्रेतात्मा अपने हथियारों से इनके विरुद्ध बचाव करता है। परन्तु दक्षिण अमेरिका की फाक्स जाति में मृत व्यक्तियों के साथ हथियार नहीं दफनाये जाते ताकि वे अपने शत्रुओं से अपने को बचा न सकें और बच कर जीवितों को हानि न पहुँचा सकें।

मोहेव जाति का विश्वास कुछ और ही है। उनका विश्वास है कि वैद्य ही लोगों की हत्या करता है। ख्याल यह किया जाता है कि वैद्य जितने लोगों को मारता है, मृत्युलोक में उतने ही व्यक्तियों का वह सरदार बन जाता है। मृत व्यक्ति के सम्पर्क में आने से अपवित्र होने का डर भी रहता है। कहीं-कहीं तो गुलाम ही शवों को ले जाया करते थे और कब्र पर उन गुलामों की भी हत्या कर दी जाती थी।

इन विभिन्न दृष्टिकोणों का परिचय आदिम जातियों के अन्य रीति-रिवाजों या अनुष्ठानों में भी मिलता है। यही संस्कृति के भिन्न-भिन्न रूप बन जाते हैं।

कृषि सभ्यता का विकास

किसने, कब और कहाँ पहला बीज बो कर अनाज उत्पन्न किया यह तो कोई बता नहीं सकता, लेकिन मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि ईसा पूर्व ८००० वर्ष के लगभग बीज बोकर अनाज उत्पन्न करने की प्रथा का आरम्भ हो गया था और ईसा पूर्व ५,००० वर्ष तक पूर्वी अफ्रीका से लेकर, पश्चिमी एशिया और सिन्धु नदी की घाटी तक, ८,००० मील लम्बी और ५०० मील चौड़ी पट्टी पर कृषि-कार्य चालू हो गया था। इस आविष्कार का श्रेय शायद नारी जाति को ही है। इसके पहले लोग आखेट और शिकार से ही जीवन धारण करते थे और नारी जाति के लोग कन्द, फल, मूल संग्रह कर आहार की कमी को पूरा करते थे। जब शिकार के लिए पशुओं का अभाव होने लगा तो फल, मूल और बीजों आदि के संग्रह का महत्व बढ़ गया। आबादी के पास की साफ की हुई जमीन पर कुछ बीज गिरते ही होंगे और उस जगह जब पौधे उगते होंगे तो औरतों की नजर उन पर पड़ती होगी। इस निरीक्षण और अनुभव के बाद स्वयं बीज बिखेर कर अनाज उत्पन्न करना एक अगला कदम मात्र था। आबादी के कूड़ा-करकट और जूठन से मिट्टी की उर्वरता बढ़ जाती थी और उपज भी जल्दी और अच्छी होती थी। हो सकता है कि भविष्य के इस्तेमाल के लिए जो बीज आदि जानवरों से बचाने के लिए छुपा कर रखे जाते थे, उनमें से ही कुछ बीजों से पौधे उग

आये हों और उन्हीं पर लोगों की नजर पहले पड़ी हो और इस प्रकार कृषि की शुरुआत हुई हो। यह भी हो सकता है कि अनाजों के बीज बोने के पहले तरबूज जैसे स्वादिष्ट फलों के बीज ही बोये गये हों, क्योंकि उनके बड़े-बड़े बीज सहज ही पहचान में आते हैं और इसी अनुभव के आधार पर अनाजों के बीज बोने का प्रयोग हुआ हो।

बहरहाल, कृषि के साथ ही मानव समाज में एक नया युग आ गया और एक नयी सभ्यता, कृषि सभ्यता का विकास होने लगा। आहार की प्रचुरता के साथ आबादी बढ़ने लगी और नयी जमीन साफ कर उस पर खेती होने लगी। अब लोगों को खानाबदोशी का जीवन व्यतीत करने की जरूरत नहीं रह गयी। लोग जम कर एक जगह बस्ती बना कर रह सकते थे। यह अनुमान किया जा सकता है कि पहाड़ी तराइयों में ही इस प्रकार की बस्तियाँ बनी होंगी क्योंकि वहाँ खेती के लिए पानी और रहने के मकानों के लिए पत्थर और लकड़ी सब पास ही मिल जाते थे। उन पत्थरों के औजार भी बनते थे, जिनकी जरूरत मिट्टी खोदने के लिए भी थी। उस युग को नया पत्थरयुग भी कहा जाता है क्योंकि न केवल बने बनाये पत्थरों का ही उस समय प्रयोग किया जाता था बल्कि उन्हें घिस कर, नुकीला बना कर, उनकी धार तेज कर, नयी शक्ल भी दी जाती थी। सभ्यता के सभी प्राथमिक उपकरण उसी जमाने में तैयार हो गये थे; अनेक क्षेत्रों में वे आज भी ज्यों के त्यों वर्तमान हैं। जो युगान्तरकारी परिवर्तन हम आज देखते हैं, उनका वास्तविक सूत्रपात भी तभी हो गया था।

अनाज पैदा करने के साथ अनाज ढोने का सवाल पैदा हो गया और उसी के जवाब में टोकरियाँ बनीं। टहनियाँ तोड़ कर टोकरियां बनाने के साथ-साथ, पौधों के मजबूत रेशों से चटाई बुनने का काम आसान हो गया और चटाई बुनने के बाद कपड़ा बुनना कोई बहुत कठिन काम नहीं रह गया। अधिक उपज के साथ मवेशियों का पालना भी सहज हो गया क्योंकि गर्मियों में घास, चारा सूख जाने पर भी उन्हें अनाज दिया जा सकता था। अनाजों के साथ खर-पुवाल का उपयोग भी बढ़ा। पहले बिस्तर के लिए, फिर मिट्टी की दीवार के लिए और छतों पर छाने के लिए। मिट्टी के बर्तन भी बनने लगे और फिर उबाल कर खाने की प्रथा चल गयी। पहले आग में भून कर या गरम पत्थर पर रोटी आदि सेंक कर लोग खाया करते थे। लेकिन बरतनों के होने पर उबालने का काम सहज हो गया। सब से बड़ी बात यह थी कि अब काम के साथ लोगों को फुरसत भी मिलने लगी। जीवन धारण के लिए लोगों को दिन भर काम में जुटा नहीं रहना पड़ता था और सोचने समझने का उन्हें काफी अवकाश मिल जाता था। इससे उनकी दिमागी ताकत बढ़ने लगी।

मनुष्य के इस खुशहाली के जमाने में आबादी जब और भी बढ़ी तो बस्तियाँ भी दूर-दूर तक प्रसारित हो गयीं और तरह-तरह के सामान दूर-दूर तक पहुँचाने की जरूरत पड़ गयी। इस काम के लिए जब जानवरों का इस्तेमाल किया जाने लगा तो मानव सभ्यता एक सीढ़ी और ऊपर चढ़ गयी। मनुष्य ने औजारों का आविष्कार तो कर लिया था परन्तु

काम वह करता था अपने शरीर के वल से। अव वह जानवरों के वल से काम करने लगा। विभिन्न प्रकार के वलों का प्रयोग और उन वलों को पैदा करना मानव जीवन में प्रगति का एक वड़ा रहस्य है। समय के साथ मनुष्य ने हवा की ताकत को अपने काम में लगाया। इसका एक उदाहरण है हवा-चक्की और दूसरा है पाल वाँध कर वड़ी नदियों और समुद्र में नावों का चलाना। वहुत दिनों वाद मनुष्य ने भाप की ताकत से इंजन चलाना सीखा। आज तो यह प्रयोग पराकाष्ठा पर पहुँच गया है जवकि मनुष्य अपने प्रयोजनों की पूर्ति के लिए प्राकृतिक गैसों का प्रयोग करता है और पानी की धार और कोयले से विजली उत्पन्न कर अपने काम में लाता है और अव तो अणुशक्ति से भी काम लेने लगा है। परन्तु इसकी शुरुआत तो तभी हो गयी जव कि मनुष्य गदहों पर वोझ लादने लगा। ऐसा जान पड़ता है कि मनुष्य ने पहले-पहल गदहों को ही अपने काम में लगाया और इसकी शुरुआत हुई मिस्र की नील नदी की निचली घाटी में। आगे चल कर इनका इस्तेमाल फिलिस्तीन, सीरिया, ईरान और भारत में भी होने लगा। घोड़ों और ऊंटों की सवारी और वैलगाड़ियों का रिवाज वहुत वाद की वात है।

यह एक कुदरती वात है कि मनुष्य जव शान्ति से रहता है, उसके जीवन में अनिश्चितता नहीं होती और उसकी सुख-सुविधाएँ वढ़ती हैं तो आवादी भी वढ़ती है। आवादी वढ़ने के कारण नयी जमीन की तलाश होती है, जंगलात काटे जाते हैं और दूर-दूर तक वसने के कारण विभिन्न स्थानों के लोगों

को विभिन्न प्रकार के अनुभव प्राप्त होते हैं। इससे बुद्धि भी तीव्र होती है और नये-नये आविष्कार सम्भव होते हैं। आवादी वढ़ने से काम का वटवारा भी अधिक होने लगता है। पहले जहाँ वढ़ई या बुन कर एक ही गाँव की जरूरतें पूरी किया करते थे वहाँ अव वे कई गाँवों की जरूरतें पूरी करने लगे और एक गाँव के लोग अपना सामान खरीदने के लिए दूसरे-दूसरे गाँवों को जाने-आने लगे। अव तिजारत का काम शुरू हो गया। अव एक ही जगह वड़ी-वड़ी मण्डियाँ वनने लगीं, जहाँ लोगों को एक ही जगह तरह-तरह के सामान मिलने लगे। जिन लोगों ने तिजारत का काम शुरू किया उनसे किसानी का कोई सम्वन्ध नहीं रह गया। समाज में एक नया वर्ग पैदा हो गया जो जमीन जोतते-वोते नहीं थे वल्कि दूर-दूर के सामान इकट्ठा कर अपनी मण्डियों में उन्हें वेचते थे। मण्डियों के इर्द-गिर्द उन्होंने अपने लिए नयी वस्तियाँ वना लीं, मकान वनवाये, साल भर खाने के लिए खत्तियों में अनाज जमा कर लिया और दीवारों से घिरा एक नया शहर वन गया। कृषि सभ्यता के पास अव एक नयी सभ्यता खड़ी हो गयी जिसे हम शहरी सभ्यता कह सकते हैं। इस नयी सभ्यता का परिणाम हुआ कृषि सभ्यता की अवनति और अधोगति। किसान अव मानव-सभ्यता का अगुआ नहीं रह गया। शहरी सभ्यता के नीचे दव कर आज उसका केवल अस्तित्व मात्र कायम है।

प्राचीन नगर सभ्यता

ग्राम-सभ्यता के विकास के अन्तिम स्तर ने एक विलकुल नयी सभ्यता को जन्म दिया जो ग्राम-भाग के उत्पादन पर तो निर्भर थी परन्तु जिसका ग्रामीण जीवन-प्रणाली से कोई सम्वन्ध नहीं था। ग्राम-जीवन की सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति के वाद कृषि की उपज के काफी परिमाण में वच रहने के कारण ही इस नवीन सभ्यता का जन्म सम्भव हो सका। इस नगर-सभ्यता में प्रकृति पर वह निर्भरता न थी जो गाँवों में थी, जीवन की वैचित्रताएँ भी अनेक थीं। मुख्य वात यह थी कि नगर की आवेष्टनी मनुष्य-चेष्टा प्रसूत थी, प्रकृतिदत्त नहीं। एक वास्तविक उदाहरण से नगर-सभ्यता की वुनियादी वातें स्पष्ट हो जायेंगी।

टेलएल उवैद, उरुक, जमदत नस्र, उर तथा अन्य स्थानों की खुदाई से ऐसा समझा जाता है कि मेसोपोटामिया (ईरान से उत्तर-पश्चिम) के दक्षिणी भाग में पहले-पहल नगरों की सृष्टि हुई। उस स्थान का प्राचीन नाम है सुमेर। वहाँ ईसा पूर्व चार हजार और तीन हजार वर्षों के वीच टाइग्रिक तथा यूफ्रेटीस नदियों की घाटी में तरह-तरह के अनाज और तरह-तरह की सब्जियाँ उत्पन्न की जाती थीं। सिंचाई का भी उत्तम प्रवन्ध था। सुमेर के नगरों में तरह-तरह के उद्योग पनप रहे थे। औद्योगिक औजार जो पहले पत्थर और हड्डियों के वनते थे, अव तांवे के वनने लगे। ईसा पूर्व

२५०० वर्ष पहले जब यूरोप की डेन्यूब नदी की घाटी से टिन आने लगा तो पीतल के औजार भी बनने लगे। इमारत आदि बनाने तथा औद्योगिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बाहरी देशों से सामान मँगाये जाने के कारण तिजारत की भी काफी उन्नति हुई। शहरों में तैयार हथियार, वस्त्र, औजार, बरतन, सुगन्धि तथा सोना, चांदी और चमड़े का सामान बाहरी देशों को भेजा जाता था और दूर-दूर से कच्चा सामान मँगाया जाता था।

प्राचीन शाही कब्रिस्तानों की खुदाई से यह प्रमाण मिलता है कि यह आर्थिक व्यवस्था विलासिता का, जिसका सर्वत्र नगर-जीवन से एक अविच्छेद्य सम्बन्ध है, भार भी वहन करती थी। राजा के साथ ही आभूषणों से सुसज्जित नारियाँ और तांबे के अस्त्रधारी सैनिक भी दफनाये हुए मिले। औरतें, बालों में सोने-चाँदी के गहने और चमकीले लाल रंग के कपड़े पहनती थीं। तीन बैल और चार पहिये वाले दो रथ भी राजा के समाधि-स्थान में पाये गए। मुहरों सहित चौकोन घरों वाली खेल की एक दफ्ती भी मिली है। यह अनुमान किया जा सकता है कि राजा नृत्य और द्यूत क्रीड़ा का भी उपभोग करते थे। यदि सुमेर के राजा विलासिता का जीवन व्यतीत करते थे, तो उनकी प्रजा, टाइग्रिस और यूफ्रेटीस के दोआब के किसान भी एक सुरक्षित जीवन व्यतीत करते थे। उनका भोजन भी पहले के किसी भी समय की अपेक्षा अधिक पुष्टिकर तथा अधिक वैचित्र्यपूर्ण था। सुमेरी विश्वासों के अनुसार, राजा नगर के मुख्य देवता के काश्तकार हुआ

करते थे। प्रति वर्ष, उस देवता के महोत्सव में राजा को काश्त का नया पट्टा मिला करता था। देवता की अनुमति से उनका काश्तकार—सुमेरी भाषा में "पटेसी" और अक्कड़ भाषा में "इशावकु" (ईक्ष्वाकु)—नगर का प्रशासन करता था। उनके मुख्य कर्तव्य थे जनता के स्वेच्छित दान का संग्रह करना, मंदिरों के कारखानों और जागीरों की देख-भाल करना, व्यावसायिक सौदों पर कानूनी मुहर लगाना, माप-तौल के निश्चित मान को कायम रखना और देवता की सम्पत्ति अर्थात नगर की रक्षा करना।

नगर सभ्यता के दो मुख्य स्तम्भ थे—राजा और पुरोहित। कभी राजा ही पुरोहित भी होते थे, जैसा उपरोक्त वर्णन में मिलता है; कभी पुरोहितों का ही नगर में आधिपत्य होता था और राजा का शासन नाममात्र के लिए रहता था; कभी राजा और पुरोहित मिल कर नगर का प्रशासन करते थे। अब समाज विभिन्न अधिकारयुक्त श्रेणियों में बँट चुका था, किसानों की स्वतन्त्रता बहुत कुछ लुप्त हो चुकी थी और बहुतेरे, मनुष्यों के ही दास बन चुके थे। इस घटनाक्रम की व्याख्या, उन प्रश्नों के उत्तर के द्वारा की जा सकती है, जिनका सम्बन्ध ग्रामों की आवश्यकता के अतिरिक्त उत्पादन से है। ये प्रश्न हैं—(१) अतिरिक्त उत्पादन का मालिक कौन होगा? (२) इसके मालिक किस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए इस अतिरिक्त उपज का इस्तेमाल करेंगे? (३) इस अतिरिक्त उत्पादन को कायम रखने का काम कौन करेंगे?

नगर सभ्यता के आरम्भिक काल में पुरोहित दल का

उदय एक ऐतिहासिक घटना है। नरेशों का उदय इसके बाद की घटना है, चाहे दोनों घटनाओं में समय का व्यवधान बहुत कम हो। पहले-पहल अतिरिक्त उत्पादन का स्वत्व पुरोहित वर्ग को ही प्राप्त हुआ। यह एक लक्ष्य करने की बात है कि बाहरी प्रकृति पर विजय प्राप्त कर लेने के बाद भी प्रकृति-बहिर्भूत कल्पित अदृश्य शक्तियों पर मनुष्य की निर्भरता घटी नहीं, बल्कि बढ़ी ही। इन शक्तियों को प्रसन्न करने के माध्यम थे पुरोहित। परन्तु उनकी प्रतिष्ठा हुई कुछ करतूतों से ही। उत्पादन की प्रचुरता के लिए जिसने नहर की खुदाई का नेतृत्व किया वही पुरोहित बन बैठा। नहर खुदवाने के अतिरिक्त उसने देवता के नाम पर नहर के पानी के वितरण का भी प्रबन्ध किया और कृतज्ञ जनता ने उसे देवत्व प्रदान किया। समय बीतने पर सहकारी पुरोहित भी उसके साथ हो लिये और धीरे-धीरे एक शक्तिशाली पुरोहित वर्ग की सृष्टि हुई। अतिरिक्त उत्पादन ने समाज में एक विषमता की सृष्टि की। कृषि-उपज में निजी स्वत्व के आधार पर एक व्यक्ति अब मेहनत किये बिना ही जीवन-निर्वाह कर सकता था और अपनी फुरसत के उपयोग से वह अब ऐसे धंधे कर सकता था जो एक साधारण किसान के लिए असम्भव था। इससे मनुष्य की नयी शक्तियों का स्फुरण हुआ और परिणाम-स्वरूप अतिरिक्त उपज का परिमाण भी बढ़ा। चूंकि अतिरिक्त उपज के मालिक किसान नहीं होते थे, इसलिए उन्हें और भी मेहनत करनी पड़ती थी और इस प्रकार अतिरिक्त उपज का धन्धा भी चलता रहा।

आवश्यकता के अतिरिक्त उत्पादन अवश्य होने लगा था, परन्तु साथ ही किसानों के सामने एक और समस्या थी। उत्पादन बढ़ने के साथ जनसंख्या भी बढ़ती रहती थी। कोई देश ऐसा नहीं था जहाँ खेती के प्रसार की कोई सीमा न हो, या एक ही खेत पर उत्पादन की कोई सीमा न हो। ऐसी अवस्था में दो बातें हो सकती थीं। एक यह कि लोग उपज को बराबर बराबर बाँट लेते। उपज अच्छी होने पर उनका निर्वाह हो जाता था, लेकिन फसल कम उगने पर हजारों की संख्या में वे मरते होते। एक निम्नतम जीवन-स्तर के ऊपर तो वे उठ ही नहीं सकते थे। दासों का जीवन वे व्यतीत करते और वास्तव में वे दास ही होते। दास किसी मनुष्य के नहीं बल्कि पृथ्वी, वर्षा और सूरज के दास।

दूसरी बात यह हो सकती थी—और घटनाचक्र से ऐसा ही हुआ कि अधिकांश लोग दास या किसान ही बने रहते और कुछ लोग सदा ही अभाव-मुक्त जीवन व्यतीत करते। इन थोड़े से लोगों ने ही सभ्यता को आगे बढ़ाया। परन्तु इस सभ्यता के विस्तार के साथ असमता की भी वृद्धि हुई। असमानता की वृद्धि अन्य कारणों से भी हुई। कृषि की समृद्धि से ग्रामीण उद्योग-धन्धों का प्रसार हुआ और कुछ उद्योग-धन्धों से कृषि और भी समृद्ध हुई और परिणामस्वरूप उद्योग-धन्धों का और भी प्रसार हुआ। इस कारण व्यापार में वृद्धि हुई। लेकिन सभी समृद्ध किसान तो होते नहीं थे और गाँवों के चारों ओर खानाबदोश कभी गाँवों पर टूट पड़ते थे और कभी तिजारतियों पर। दोनों को

अपने जानमाल की रक्षा के लिए बलवान लोगों को नियुक्त करना पड़ा। धीरे धीरे बलवान लोगों के जमाव से एक क्षत्रिय वर्ग की सृष्टि हुई। समाज में एक नये वर्ग की स्थापना हुई और इस वर्ग के नेताओं के रूप में राजाओं की प्रतिष्ठा हुई। लड़ना जब एक पेशा बन गया तो देश-विजय का रिवाज चल पड़ा। किसी देश पर धावा बोलकर लूट-खसोट का नाम देश-विजय नहीं है; उसका वास्तविक उद्देश्य था अधिकाधिक परिमाण में अतिरिक्त उपज पर नियन्त्रण प्राप्त करना। युद्ध में हारे हुए लोग दास बनाये जाने लगे और उनके जरिये अतिरिक्त उपज की और भी वृद्धि होने लगी।

शहरी सभ्यता की एक प्रमुख विशेषता थी, व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकारों का प्रसार। पहले सम्पत्ति उसकी होती थी जो उसे जीवन धारण का साधन बनाता था। जमीन जोतने-बोने वालों की होती थी। अब व्यक्तिगत सम्पत्ति का अर्थ हुआ अतिरिक्त उपज का एक अंश पाने का अधिकार। यह उस उपज का अंश था जो श्रमिक जीविका मात्र के लिए उत्पन्न करता था। जीवन धारण की आवश्यकता ने निर्धनों को अतिरिक्त उपज का अंश धनिकों को देने के लिए मजबूर किया। मुद्रा आदि विनिमय के माध्यम ने अतिरिक्त उपज में निजी अधिकारों को लचीला बना दिया, जिससे मिलकियत का हेर-फेर बहुत आसान हो गया। इस लोच के कारण अतिरिक्त उपज का प्रयोग विविध प्रकारों से किया जा सकता था, जिनसे सम्भव था कि अतिरिक्त उपज का परिमाण और भी बढ़ता, या नहीं भी बढ़ता। अतिरिक्त

उपज के संचय का प्रयोग जब और अधिक सम्पत्ति के उत्पादन के लिए किया जाता है, तो उसे पूंजी कहते हैं। नगर सभ्यता ने पूंजी की सृष्टि की और पूंजी के लचीलेपन ने व्यवसाय को जन्म दिया। अब व्यवसाय का वह पुराना रूप न रहा कि लोग दूसरों को जरूरत की चीजें बेचकर अपनी जरूरत की चीजें खरीदते। व्यवसाय का रूप हो गया शर्त सहित सौदे का। इस व्यवसाय का प्रारम्भिक रूप था कर्ज और सूद का सौदा।

इस कर्ज का मूल रूप था मन्दिर अधिकारियों द्वारा काश्तकारों को पेशगी जिनमें कुछ और जोड़ कर काश्तकार कर्ज की अदायगी करते थे। इन पेशगियों पर सुमेर में सूद की दरें १५ से ३३ प्रतिशत तक थीं। बेबीलोनिया के प्रसिद्ध राजा हाम्मुराबी ने सूद की कानूनी दर २० प्रतिशत निश्चित की। कर्ज का यह सिलसिला बेबीलोनिया से मिश्र, असीरिया और एशिया-माइनर तक फैल गया। हाल ही में एशिया माइनर में असीरिया के एक सौदागर की फैली हुई पूंजी की सूची मिली है, जो एक प्रस्तर-खण्ड पर दर्ज है। इस सूची से पता चलता है कि उस सौदागर ने एशिया-माइनर के ६ व्यक्तियों को कर्ज दे रखा था, जिन पर सूद की दरें २४ से ३० प्रतिशत तक थीं। इस प्रकार उत्पादन, वितरण और उपभोग की आर्थिक प्रक्रियाओं से भिन्न व्यवसाय की एक नयी आर्थिक प्रक्रिया का प्रारम्भ हुआ।

हम देख सकते हैं कि नगर-सभ्यता में वर्ण-विभाजन सर्वत्र मौजूद था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, यह

वर्ण-व्यवस्था अकेले भारत की विशेषता नहीं है। पुरोहित वर्ग को ब्राह्मण श्रेणी के रूप में माना जा सकता है, सैनिक दल को क्षत्रिय के रूप में, तिजारती वर्ग को वैश्य के रूप में और दासों को शूद्र के रूप में। दास अकेले शूद्र ही नहीं थे। मिस्र में शाही कब्र और पिरामिड निर्माण करने वाले मजदूरों को भी शूद्र वर्ग में ही शामिल किया जा सकता है। मजदूर बस्तियाँ चारों ओर दीवारों से घिरी थीं और वहीं उन्हें बन्दीगृह में निवास करना पड़ता था। फाटकों पर पहरे का प्रबन्ध रहता था। कार्यतः वे सभी दासों में ही शामिल थे। भिन्न वर्गों के लिए कानून भी भिन्न थे। इस नगर-सभ्यता को हम सभ्यता का विकास कह सकते हैं, परन्तु यह सभ्यता रूढ़ियों और परम्पराओं में इतनी बँध गयी थी कि वह विकास बहुत दूर तक अग्रसर न हो सका। अभाव से दबे हुए निम्न-वर्गों से यह आशा की नहीं जा सकती थी कि वे सभ्यता को आगे बढ़ाते, और शासक वर्गों की सारी तृष्णा दूर हो जाने के कारण उनमें भी आगे बढ़ने की कोई प्रेरणा न रही। विलासिता की सामग्रियाँ बढ़ीं, परन्तु सभ्यता विशेष आगे नहीं बढ़ी। शस्त्रास्त्रों के आविष्कार में ही थोड़ी बहुत प्रगति हुई, क्योंकि साम्राज्य कायम रखने के लिए ही राजाओं को उसकी आवश्यकता थी। उस काल में सभ्यता की प्रगति में यदि किसी ने कुछ दान किया तो वह मध्यम-वर्ग ही था।

मानव समाज में जातियाँ

मानव समाज में विभिन्न जातियों की उत्पत्ति इतिहास का एक दिलचस्प अध्याय है। जाति विशेषज्ञों में से कुछ का यह विचार रहा है कि मनुष्य जाति की भिन्न नस्लें हैं और उनमें से कुछ श्रेष्ठ हैं और कुछ निकृष्ट। परन्तु अधिकांश समाज-वैज्ञानिक आज इस तथ्य पर उपनीत हुए हैं कि न केवल मनुष्य जाति की नस्ल एक है वल्कि वाह्य रूपों की तुलना के अतिरिक्त भिन्न जातियों की दिमागी ताकत, जो मनुष्य की एक वहुत वड़ी विशेषता है, की पारस्परिक और आपेक्षिक तुलना के लिए अभी तक कोई वैज्ञानिक साधन भी मौजूद नहीं है। रंग, कद आदि के आधार पर मानव समाज का जातीय विभाजन तो किया जा सकता है लेकिन इनसे विशेष गुणों का परिचय नहीं मिलता है। विकास क्रम में कुछ जातियाँ पिछड़ गई हैं और कुछ आगे वढ़ गई हैं, लेकिन इसका वास्तविक कारण यह है कि कुछ को नए अनुभव प्राप्त करने का मौका मिला है और नई परिस्थितियों का सामना करना पड़ा है और कुछ को नहीं।

जिस वैज्ञानिक तथ्य के आधार पर जातियों की उत्पत्ति का रहस्योद्घाटन किया गया है वह यह है कि प्रत्येक मनुष्य वहुसंख्यक 'जीन' (वाहकाणु) की एक उपज है। यह 'जीन' अवयव विशेष (नाक, कान आदि) का एक सूक्ष्म रूप मात्र नहीं है जो आगे चल कर एक पूर्णांग अवयव वन जाता हो, वल्कि यह एक जटिल 'प्रोटीन' कण-दल जैसा है जो जीव-संगठन को

एक विशिष्ट क्रिया-शक्ति या कार्यकुशलता प्रदान करता है। दस हजार से लेकर अस्सी हजार तक 'जीन' प्रत्येक मनुष्य में हो सकते हैं। श्री स्पूलर का आधुनिक अनुमान यह है कि ४४ हजार 'जीन' के जोड़े प्रत्येक मनुष्य में काम करते रहते हैं। इन ४४ हजार में से ९० फीसदी 'जीन' सभी व्यक्तियों या समूहों में समान होते हैं। बाकी चार या पाँच हजार 'जीन' में से आधे शरीर संगठन, वृद्धि की रफ्तार, यौन विभेद (मर्द और औरतों के विभेद) आदि से सम्बन्धित जातीय विभिन्नताओं के लिए जिम्मेदार हैं। बाकी ढाई हजार में से करीब सौ का प्रभाव दाँत पर पड़ता है, सौ का बालों पर और ६० का शरीर के रंग पर पड़ता है। कुल मिला कर यह कहा जा सकता है कि जो 'जीन' एक व्यक्ति को दूसरे से भिन्न करते हैं उनकी संख्या बहुत थोड़ी ही है। यदि ऐसा न होता तो किसी के दो नाकें होतीं और किसी की चार आँखें। परन्तु यह भी सही है कि कोई दो व्यक्ति बिलकुल एक समान नहीं होते, कुछ न कुछ विभेद व्यक्तियों में होता ही है।

रूप, रंग, कद आदि में प्रायः एक समान व्यक्तियों के समूह को हम एक जाति की संज्ञा देते हैं। मानव समाज को तीन से छः तक मुख्य समूहों में विभाजित किया जाता है। चमड़े का रंग, बाल और नाक की शक्ल, इस वर्गीकरण के आधार हैं। इनमें तीन सर्वोपरि एवं मुख्य हैं—नीग्रायड, मंगोलायड तथा श्वेत (जिसे काकेशश जाति भी कहा जाता है)। पहली श्रेणी में नीग्रो जाति के बावने तथा मेलानेशिया के लोग हैं। इनका रंग काला तथा बाल खड़े और घुंघराले होते हैं। दूसरी श्रेणी

में चपटा मुँह और मोटे खड़े वाल वाले पूर्वी एशिया तथा इंडोनेशिया के लोग हैं। कुछ मानव-शास्त्र वेत्ता अमरीकी इंडियन्स को भी इसी श्रेणी में रखते हैं। श्वेत श्रेणी में यूरोप-निवासी तथा उत्तरी अफ्रीका और पश्चिमी एशिया के ऐसे लोग आते हैं, जो न मंगोलायड हैं और न नीग्रायड। अन्य तीन जातियाँ हैं—अमरीकी इंडियन, पोलिनेशियन तथा आस्ट्रा-लायड। आस्ट्रेलिया की आदिम जातियां तथा दक्षिण एशिया और संलग्न टापुओं के कुछ लोग शेषोक्त श्रेणी में रखे जा सकते हैं। अमरीकी इंडियन श्वेत और मांगोलायड दोनों से कुछ मिलते-जुलते हैं। पोलिनेशियन की उत्पत्ति मांगोलायड तथा इण्डोनेशिया और दक्षिण-पूर्वी एशिया के कुछ अन्य तत्वों के मिश्रण से हुई है।

पहले ही कहा जा चुका है कि चमड़े का रंग और वाल के रूप आदि कुछ वाह्य प्रकृतियों पर जातियों का विभाजन आधारित है और विभिन्नता के लिए मानव-शरीर के कुछ 'जीन' जिम्मेदार हैं। परन्तु यदि एक ही नस्ल से मानव-समाज की उत्पत्ति हुई है तो ये विभिन्नताएँ आयीं कहाँ से ? इसके निश्चित कारणों का निर्णय तो नहीं किया जा सकता है लेकिन जिस प्रकार मानव-समाज सारी दुनिया में फैल गया उससे इसका एक अनुमान लगाया जाता है। यह तो निश्चय ही है कि नरजातीय वानरों में ही किसी न किसी श्रेणी से प्रकृति ने धीरे-धीरे मानव जाति को रूप दिया। इसका अर्थ यह नहीं है कि गोरिला, शिम्पांजी या गिवन की सन्तान ही मनुष्य हैं। परन्तु इसके रूपान्तर के विकास-क्रम में ही कहीं

मानव जाति के जन्मदाता का कोई स्थान है। एक विशेष विकास स्तर पर मनुष्य जाति के पूर्वजों का जन्म हुआ। विकास के इस इतिहास से यह स्पष्ट है कि अप्रत्यक्ष रूप से ही सही नर और वानर का कुछ न कुछ सम्बन्ध है। इससे यह नतीजा निकाला जा सकता है कि किसी गर्म जंगली प्रदेश में ही मानव जाति का जन्म हुआ। इसका यह भी अर्थ है कि मूल मानव के चमड़े का रंग काला था। इस काले रंग में ही आदिम मानव की बचत थी। आँखों की पुतलियों के सामने और पीछे काला रंग भरा होने के कारण सूरज की रोशनी की अल्टा-वायलेट किरणें शरीर के अन्दर प्रवेश नहीं कर पातीं। यदि ये किरणें प्रवेश कर जायें तो शरीर का मरण होना अवश्यम्भावी है। शरीर के चमड़े और आँखों की पुतलियों के ऊपरी या निचले हिस्से का रंग एक ही होता है। गर्म, जंगली प्रदेशों में सफेद चमड़ा और भूरी या नीली आँखों वाला कोई रहे तो अधिक दिन तक वह जिन्दा नहीं रह सकता। इसलिए वहाँ गोरा आदमी रहा भी तो धीरे-धीरे उसका लोप होता गया और काले रंग वालों के लिए ही वह स्थान उपयुक्त पाया गया।

जब खाद्य की खोज में समूह के समूह अन्य स्थानों को फैलने लग गये तो उन्हें प्रकृति की भिन्न अवस्थाओं का सामना करना पड़ा। उत्तर के ठण्डे भागों में मंगोल जाति की छोटी छोटी आँखें बर्फ की चमक से बचाव के लिए हैं। लेकिन रोशनी की चमक से बचाव से अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न ठण्ड से ही बचाव का था। जानवरों के बालदार चमड़ों से ढककर शरीर का बचाव तो वे कर सकते थे लेकिन जीविका के लिए

शिकार आदि तो उन्हें करना ही पड़ता था और इसलिए मुँह का काफी हिस्सा खुला रखना उनके लिए जरूरी था। यह एक साधारण जानकारी की वात है कि शरीर के निकले हुए नुकीले हिस्सों पर शीत का प्रभाव अधिक पड़ता है। जहाँ तापमान वर्फ जमने के तापमान से भी ७०, ८० अंश नीचे हो वहाँ नाक अधिक वढ़ी हुई हो तो उस पर वर्फीला घाव हो जाना स्वाभाविक है। नाक चपटी हो तो हिम का उतना भयंकर प्रभाव नहीं पड़ सकता। गर्म देशों में शरीर का संगठन ऐसा होना चाहिए कि शरीर का ताप वाहर निकल सके परन्तु ठण्डे देशों में जरूरत यह है कि शरीर के ताप में कोई कमी न हो पाये। यही कारण है कि मंगोल जाति के शरीर के ऊपरी स्तरों में भी चर्वी की मात्रा काफी है। उनकी आँखों की पलकों पर भी चर्वी जमी होती है जिससे आँख का थोड़ा-सा ही हिस्सा खुला रहता है। ठण्ड के कारण ही उनकी दाढ़ी आदि भी विरल होती है। दाढ़ी घनी या वड़ी हो तो श्वास जम कर दाढ़ी वर्फ से ढक जाये और साथ ही ठुड्डी भी जम जाये। इस प्रकार मंगोल का वाह्य रूप ऐसा है जो उसके निवास-स्थान की प्राकृतिक अवस्था से मेल खाता है।

यों तो गोरे रंग के लोग विभिन्न स्थानों में विखरे हुए पाये जाते हैं लेकिन जाति के रूप में यह विशेषता उत्तर-पश्चिम यूरोप में ही पाई जाती है। उनका रंग गोरा कैसे हुआ, इस सम्वन्ध में यही कहा जा सकता है कि रंगवाले 'जीन' में कुछ न कुछ परिवर्तन होता रहा और नम ठण्डे क्षेत्रों में इन परिवर्तित 'जीनो' को ही अधिक प्रोत्साहन मिला। ठण्डे देशों में

लोग काफी कपड़े पहनने के अभ्यस्त होते हैं और इस प्रकार उनका चमड़ा बाहरी प्रकृति के सम्पर्क से बाहर रहता है। इससे भी चमड़े के रंग का झुकाव गोरे की ओर ही होता है। इतना तो निश्चित ही है कि ठण्डी जगहों में गोरा चमड़ा असुविधाजनक नहीं है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इन क्षेत्रों में सभी लोगों का चमड़ा बिल्कुल गोरा होता है। बहुतेरों के चमड़ों पर कुछ रंग होता है और उनके चमड़े गर्मियों में कुछ मैले हो जाते हैं। जाड़ों में उनका चमड़ा फिर साफ हो जाता है। नारवे, फिनलैंड, पोलैंड और लिथुआनिया में स्वल्पसंख्यक भूरे चमड़े वाले भी पाये जाते हैं और यह कहना कठिन है कि काले चमड़े के 'जीनों' का प्रवेश उस क्षेत्र में किस समय हुआ। गोरा चमड़ा और नीली आँखें साथ ही पाये जाते हैं। जिनके चमड़े गर्मियों में मैले हो जाते हैं उनकी आँखें भी धूमिल या हरी होती हैं। गोरे रंग और नीली आँखों वालों के बाल भी लाल या भूरे हुआ करते हैं। धूमिल आँख वाले मध्य यूरोप के निवासियों के बाल प्रायः राख के रंग के होते हैं। इन दो जातियों के अलावा एक तीसरी जाति भी है जिसके रंग में कुछ परिवर्तन हुआ। यह है नार्डिक जाति। ऐसा जान पड़ता है कि ये लोग ईसा पूर्व ५,००० वर्ष के लगभग ईरान से चलकर मध्य तथा उत्तर-पूर्वी यूरोप में जा बसे। उनके रंग परिवर्तन के दो कारण हो सकते हैं। एक यह कि वे वहां के मूल निवासियों में घुलमिल गये और दूसरा यह कि प्रकृति ने उस क्षेत्र के लिए उन्हीं लोगों को चुना जिनके रंग में परिवर्तन की सम्भावना थी। नार्डिक जाति में कुछ अल्पसंख्यक लोग

अवश्य मिलते हैं जिनके रंग में भूरापन होता है। जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि आक्रमणकारी आर्य नार्डिक जाति के ही थे। आकृति और शारीरिक संगठन में आर्य और नार्डिक जाति में एक मेल है लेकिन अधिक संख्यक गोरे रंग वाले 'जीनों' के भी वे वाहक थे, यह नहीं कहा जा सकता।

जातियों के वर्गीकरण का एक और आधार भी है। वह है शारीरिक संगठन। सहारा की तुआरेग जाति या उत्तरी अफ्रीका के मरु-निवासी सोमाली जाति के लोगों के हाथ पैर लम्बे होते हैं और आर्कटिक क्षेत्र के साइबीरियन क्षेत्र याकुति या ग्रीनलैंड निवासी एसकिमो जाति के लोगों के हाथ पैर छोटे होते हैं। देखने की वात यह है कि लम्बे पैरों से, जहाँ हर समय खून का अधिकतम हिस्सा जमा रहता है, गर्मी निकालना (विकीरण के द्वारा) आसान होता है और गर्मी शरीर से न निकल पाये इसके लिए छोटे हाथ पैर अधिक उपयोगी हैं। लेकिन नम गर्मी वाले स्थानों में प्रकृति से ताल मिलाने की जरूरत नहीं पड़ती। इस क्षेत्र के नीग्रो आदि निवासियों में इसी कारण कोई विशेष परिवर्तन देखा नहीं जाता। यह भी ध्यान में रखने की वात है कि चमड़े, वाल और आंखों के रंग तो पुश्तैनी हैं, उन्हें उत्तराधिकार सूत्र से प्राप्त किया जा सकता है, परन्तु शारीरिक संगठन पुश्तैनी नहीं है। वचपन में ही कोई एक क्षेत्र से भिन्न जलवायु वाले क्षेत्र को ले जाया जाये तो उसके शारीरिक संगठन में परिवर्तन हो सकता है। सूखा और नमी का प्रभाव सीने के संगठन पर

पड़ता है। नमी वाले क्षेत्रों में गहरे सीने वाले लोग पाये जाते हैं और शुष्क क्षेत्रों में चपटे सीने वाले लोग। पहाड़ों पर गहरे सीने के अस्तित्व का एक और कारण यह है कि चढ़ाई पर आक्सीजन की मात्रा कम होती है और एक साथ अधिक श्वास खींच कर ही इस कमी की पूर्ति सम्भव है। पुष्टिकर भोजन का भी शारीरिक संगठन पर प्रभाव पड़ता है। प्रायः सभी अमरीकियों को दुनिया के सभी भागों से अच्छा से अच्छा खाद्य प्रचुर मात्रा में प्राप्त होने के कारण उनका कद प्रायः एक ही जैसा होता है। एक ही जाति में श्रेणी विभाजन के कारण कद में विभिन्नता हो सकती है। जिस श्रेणी को अधिक खाद्य प्राप्त होता है उसका डील-डौल बड़ा होता है और जिसे कम प्राप्त होता है उसका कद भी छोटा होता है।

अन्तिम बात यह है कि मनुष्य के रूप गुण दोनों परिवर्तनशील हैं और यदि एक पीढ़ी को ये पिछली पीढ़ी से उत्तराधिकार सूत्र से प्राप्त हो भी जायें तो यह केवल नस्ल की बात नहीं है। प्राकृतिक परिवेश का भी इन पर काफी प्रभाव पड़ता है और इस परिवेश से जूझने की ताकत जिसमें अधिक होती है, वही उन्नति करता है। जूझने की इस ताकत का जाति से कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि अनेक आदिम जातियां आज भी आदिम अवस्था में हैं तो उसका एकमात्र कारण यह है कि प्राकृतिक परिवर्तनों से जूझने की उन्हें कोई जरूरत नहीं पड़ी, प्रकृति ने ही उन्हें एक आश्रय दे रखा है। यदि इस परिवेश में अन्तर पड़ने लगे तो आदिम युग और सभ्ययुग का अन्तर ही मिट जाये, जैसाकि दुनियां के विभिन्न भागों में आज हो भी रहा है।

भारत में प्रस्तर युग

भारत में कुल्हाड़ी या मुष्टि छुरा संस्कृति के पुरातात्विक चिह्न पाँच सात लाख वर्ष पहले तक के ही मिलते हैं। लवालोग्रा किस्म के पत्थर के औजार दक्षिण भारत के अनेक स्थानों में पाये गये हैं। अशूलियन औजार जो अधिक पुराने हैं, और पाषाण चूर्ण जो लवालोग्रा के वाद के औजार हैं और लवालोग्रा किस्म के औजार प्राय: एक ही स्थान में जमीन के भिन्न-भिन्न स्तरों में मिले हैं। वम्वई के निकट खाण्डिवली, जवलपुर के निकट भेड़ाघाट नाला, हैदरावाद (आंध्र) के आदिलावाद जिला और मद्रास के नेलोर जिले में जो प्रस्तर खण्ड मिले हैं उनसे अनुमान किया जाता है कि पत्थर के औजारों की उन्नति लगातार होती गई और उन्नति का क्रम यही रहा है कि अशूलियन औजारों के वाद लवालोग्रा और उसके वाद पाषाणचूर्ण औजार आये। उत्तर भारत में केवल मिर्जापुर जिले में, रिहन्द नदी के पास ही ये औजार मिलते हैं। यह भी अनुमान किया जाता है कि उन्नत किस्म के पाषाण चूर्ण (माइक्रोलिथ) औजार वनते समय भारत पर वाहरी, विशेपकर पश्चिम एशिया का प्रभाव पड़ा था। अनुमान का कारण यह है कि प्राय: उसी समय पूर्वी अफ्रीका में भी उन्नति का यही क्रम रहा है।

दुनिया के अन्य भागों की तरह भारत में भी पत्थर के औजारों का उन्नत क्रम वहीं था जहाँ वातावरण इसके लिए

एक रमणी की ताम्रमूर्ति—मोहंजोदड़ो

अनुकूल था। जंगलों के आदिम निवासी पुराने औजारों का ही इस्तेमाल करते रहे। इसी प्रकार, पिछड़े हुए शिकारी जब अशूलियन और लवालोआ औजारों का इस्तेमाल करते थे तो म०य प्रस्तर युग में पहुँचे हुए लोग तीर-धनुष का व्यवहार करने लगे थे और नुकीले डण्डों आदि से जमीन खुरच कर प्रारम्भिक किस्य की खेती भी करने लगे थे। यह निश्चित है कि नवप्रस्तर युग में खेती करने वाले भारत में पश्चिम से ही, सम्भवतः ईरान से आये। ये लोग ईसा पूर्व २९५० से लेकर ईसा पूर्व २७५० वर्ष के बीच आये होंगे। ये खेती का कौशल और बर्तन बनाने की कला भी अपने साथ ले आये। ईरान में इनके चिह्न ईसा पूर्व ५ हजार वर्ष के भी मिलते हैं। बलूचिस्तान और क्वेटा से सिन्ध तक इन बर्तनों के अवशेष मिलते हैं।

मोएनजोदड़ो की सभ्यता का इतिहास अनोखा है। स्पष्ट है कि यह सभ्यता भारत में उत्पन्न नहीं हुई। यह शहरी सभ्यता सुमेर और ईलम से समुद्र के रास्ते आई, ईसा के जन्म के प्रायः २६ सौ वर्ष पहले। उन्होंने अपनी सभ्यता को भारत के वातावरण के अनुकूल बनाया और मकान बनाने आदि की कला में, जो वे अपने साथ लाये थे, उन्नति भी की। मोएन-जोदड़ो के मकानों की ईंटें सब एक माप की हैं—पहले ९·२ + ४·५ + २·२ इंच वाली ईंटें और बाद को ११ + ५·५ + ३ इंच की ईंटें। शहर के साथ नालियां भी योजना के अनुसार बनाई गईं। ईंट तपाने के लिए जंगलों से लकड़ी काटी गई होगी, इसलिए उनके पास तांबे और पीतल की कुल्हाड़ियां भी थीं। इन बातों से और सील मुहर आदि से

ही यह अनुमान लगाया गया है कि मोएनजोदड़ो की संस्कृति पैदा करने वाले सुमेर और ईलम के लोग थे, जहाँ अनुरूप सील मुहर आदि मिले हैं। मोएनजोदड़ो में आने वाले सुमेर और ईलम वासियों ने ही, उत्तर की ओर साढ़े तीन सौ मील दूर हरप्पा की संस्कृति की सृष्टि की। ईसा पूर्व २१५० वर्ष के लगभग यह संस्कृति अपने शिखर पर पहुँची और ईसा पूर्व १८ सौ वर्ष के लगभग हरप्पा का पतन हुआ।

पुरातात्विक अवशेषों से सिद्ध है कि हरप्पा का पतन वाहरी आक्रमण के कारण हुआ। आक्रमण करने वालों को मोटे तौर पर आर्य कहा जा सकता है। इन आक्रमणकारी आर्यों के निवास के खण्डहर झूकर (उत्तर-पश्चिम भारत) में मिलते हैं। इनके हथियार भी विशेष किस्म के थे। इन आक्रमणों का उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है जो ईसा के जन्म के १५०० वर्ष पहले लिखा गया होगा। तैत्तिरीय संहिता में जिन असुरों का उल्लेख किया गया है वे सम्भवतः मोएजोदड़ो के लोग ही थे। आर्यों ने हरप्पा का ध्वंस किया लेकिन मोए-जोदड़ो पर वे विजय नहीं प्राप्त कर सके। मोएनजोदड़ो का विनाश तव हुआ जव नगर सीमान्त पर स्थित वांध तोड़ कर नगर को जलमग्न किया गया। ऋग्वेद की ऋचाओं में वर्णित नदियों को इन्द्र के द्वारा मुक्त किये जाने की यही व्याख्या जान पड़ती है। आर्यों से भिन्न-भिन्न दलों में भी संघर्ष होता रहा और इनमें कुछ दलों ने अनार्यों को भी अपने साथ लिया। ये आर्य जव उत्तर भारत में फैले तो नव प्रस्तर युग की संस्कृति वाली निषाद और सवर जैसी आदिम जातियों से उनका मुकावला हुआ। परन्तु अव हम प्रायः ऐतिहासिक काल के निकट पहुँच गये।
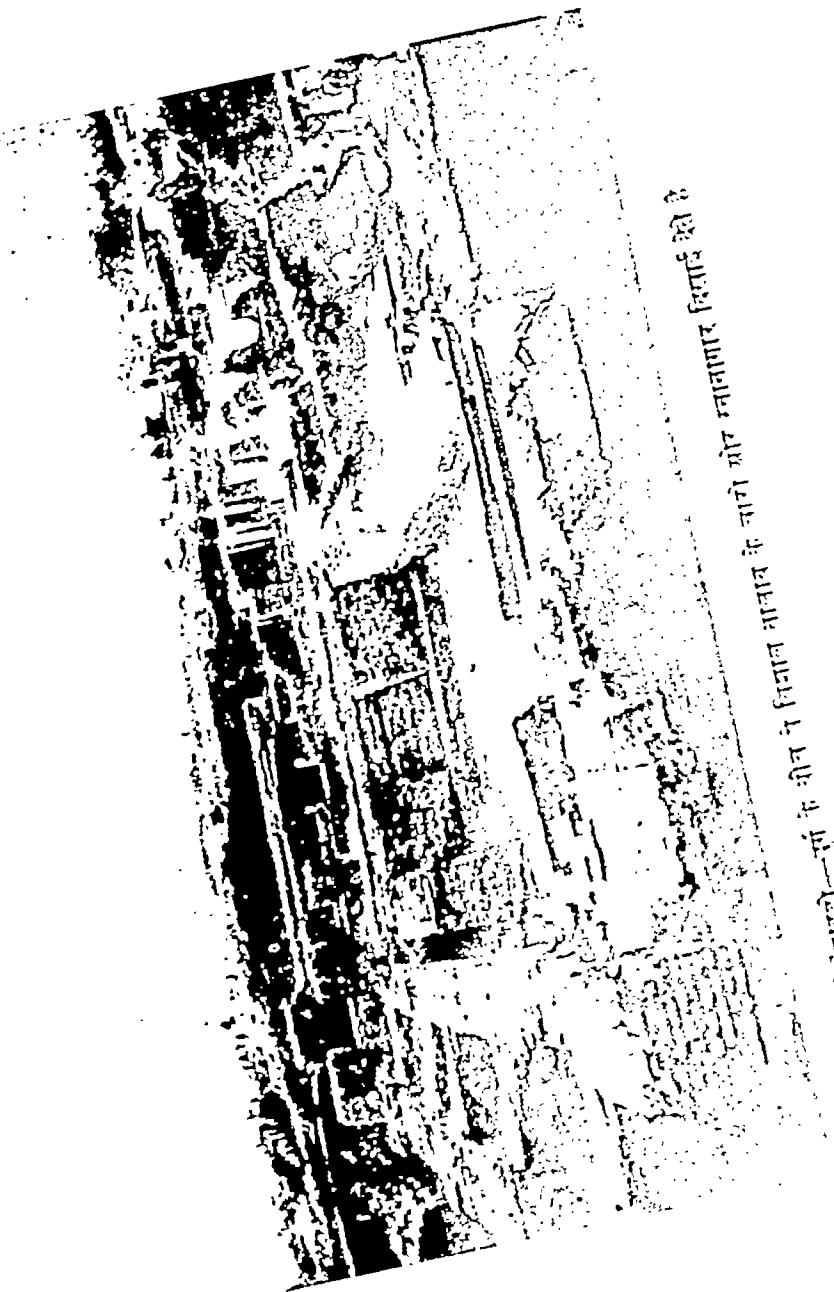
मोहेंजोदड़ो—दुर्ग के बीच में विशाल तालाब के चारों ओर स्नानागार दिखाई देते हैं

प्राचीन आर्यों में गोत्र प्रथा

आदिम जातियों की विवाह प्रथा का वर्णन पहले किया जा चुका है। आर्यों की गिनती आदिम जातियों में तो नहीं की जा सकती लेकिन तुलनात्मक रूप से उनकी विवाह प्रथाओं का अध्ययन भी इसी प्रसंग में किया जा सकता है। इन प्रथाओं की जानकारी के लिए हमें वेद, पुराण, रामायण और महाभारत का सहारा लेना पड़ता है, क्योंकि ईसा पूर्व दो हजार और ६ सौ वर्षों के बीच आर्यों सम्बन्धी कोई पुरातात्विक चिह्न नहीं मिलते। रामायण का काल ईसा पूर्व लगभग १४ सौ वर्ष समझा जाता है जब कि गोदावरी के पास आर्यों का किसी दक्षिणी शक्ति से संघर्ष हुआ। वेद के प्राचीन अंश ईसा पूर्व एक हजार वर्ष से पहले ही लिखे गये। महाभारत का काल ईसा पूर्व एक हजार से ८ सौ वर्ष के बीच माना जाता है। पुराण विभिन्न कालों में लिखे गये।

आर्यों में भी क्षत्रियों और ब्राह्मणों की विवाह रीतियों में कुछ अन्तर लेकिन मोटे तौर पर विवाह जाति के अन्दर होता था और निकट सम्बन्धियों में विवाह निषिद्ध था। जानकी और राम दोनों इक्ष्वाकुवंश के थे। अर्जुन और द्रौपदी दोनों भरत वंश के थे। इन दोनों उदाहरणों में पुरुष और स्त्री कई पीढ़ियों के बाद विवाह सम्बन्ध में आबद्ध हुए। यहाँ, वंश, कुल और गोत्र, तीनों शब्दों की परिभाषाओं पर कुछ विचार कर लेना आवश्यक है। वंश या बांस सीधी लकीर जैसा है।

पिता से ज्येष्ठ पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदि क्रम वंश-परंपरा है। भतीजे आदि की दूसरी वंश-परम्परा है यद्यपि दोनों का आदि पुरुष एक हो सकता है। विवाह वंश के अन्दर होता है लेकिन एक कुल में नहीं। कुल, पितृ प्रधान आर्य समाज का विस्तृत और सम्मिलित परिवार है। पितृ प्रधान होने के कारण कुल में भाई, वहन, लड़के, भतीजे और उनके लड़के आदि साथ रहते हैं। इस कुल की लड़कियों की शादी अन्य कुलों में और अन्य गाँवों में भी होती है। विवाह के लिए स्थान और वंश दोनों पर ध्यान दिया जाता था। कुल के लड़के दूसरे स्थानों से ही वहू लाते थे। वहू शब्द वधू शब्द का अपभ्रंश है और वधू का मूल अर्थ है जो लाया या वहन किया जाता है। अक्सर अपने स्थानों से ही वधुओं का नाम पड़ जाता था। जैसे कौशल्या, कौशल प्रदेश की राजकुमारी थी, गान्धारी, गन्धार की थी और द्रोपदी का दूसरा नाम पांचाली था।

कुल और गोत्र मूलतः पर्यायवाची शब्द हैं परन्तु वाद को गोत्र का एक विशिष्ट रूप वन गया। गोत्र धीरे-धीरे उन कुलों का एक समूह वन गया जिनमें परस्पर विवाह नहीं हो सकता था। एक गोत्र के सदस्यों की शादी अन्य गोत्रों के सदस्यों से ही हो सकती थी। आज भी हिन्दुओं में यही प्रथा प्रचलित है। यहाँ लक्ष्य करने की वात है कि व्राह्मणों में ही गोत्र का प्राधान्य था। व्राह्मण घूमते-फिरते रहते थे, एक जगह नहीं रहते थे भिन्न-भिन्न गाँवों के लोगों का विवाह सम्बन्ध कायम करना उनके लिए कठिन था। गोत्र प्रथा के अनुसार एक

ही गाँव में भिन्न गोत्रियों का विवाह संभव है। कुछ अंशों में अंग्रेजी शब्द 'क्लैन' और 'गोत्र' एक ही अर्थ के बोधक हैं।

गोत्र सम्बन्धी विधि नियम बनाने का श्रेय बोधायन को प्राप्त है। उन्होंने समाज को आठ गोत्रों में बांटा। प्रत्येक गोत्र के लोग किसी ऋषि की सन्तान हैं। ये आठ ऋषि हैं— अगस्त्य, जामदग्नि, गौतम, भरद्वाज, अत्रि, विश्वामित्र, कश्यप और वशिष्ठ। प्रत्येक ऋषि की सन्तानों में प्रवर या श्रेष्ठ पुरुष हैं। प्रत्येक गोत्र को गणों में विभाजित किया गया है और गण के प्रवर पृथक हैं। गणों के प्रवर तीन या पांच गिनाये जाते हैं। हो सकता है कि कोई प्रवर दो गणों में एक ही व्यक्ति हो। गोत्र, गण और प्रवर तीनों को ध्यान में रख कर विवाह सम्बन्ध किया जाता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि प्राचीन आर्यों में निकट सम्बन्धियों में विवाह निषिद्ध था। लेकिन कुछ अपवाद भी मिलते हैं। ऋग्वेद में उल्लेख मिलता है कि सूर्य के यमजपुत्र, अश्विनीकुमारों का विवाह सूर्य कन्या सूर्या से हुआ। ऋग्वेद में ही अन्यत्र भाई-बहन की शादी के दो-एक और संकेत मिलते हैं। अर्जुन ने मातुल कन्या सुभद्रा से विवाह किया। कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न का विवाह मातुल कन्या रुक्मिणी से हुआ। पंच पाण्डवों का द्रोपदी से विवाह भी एक अपवादस्वरूप है। इस विवाह से इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है कि आर्य मध्य हिमालय पर्वत श्रेणी से भारत में प्रविष्ट हुए। इस क्षेत्र की किरात जाति में आज भी बहुपति विवाह की प्रथा प्रचलित है और महाभारत में किरातों का उल्लेख भी है।

विवाह विधियों में सब से अधिक भिन्नता मध्य भारत में पाई जाती है जहाँ कई विभिन्न जातियों का समावेश हुआ। यहाँ आर्य उत्तर से आये और रुक गये, द्रविड़ दक्षिण से उत्तर को जाते हुए यहीं रुक गये और भारत की अति प्राचीन जातियाँ दोनों के बीच इधर-उधर बिखर गयीं। इन आदिम जातियों की बोलियाँ भी कहीं बदल गयीं। गौड और ओराओं द्रविड़ भाषा-भाषी हैं। मुंडा आस्ट्रो-एशियाई भाषा-भाषी हैं और उनकी दूसरी शाखा आसाम निवासी खासी है। संभवतः मुंडा की कोड़ जन जाति संस्कृत का कोल शब्द है। हरिवंश पुराण में कोल-सर्प जाति का उल्लेख मिलता है। सर्प नाग शब्द का विकल्प है। यह भी विश्वास करने का कारण है कि नागवंश (जन्मेजय ने जिसका उच्छेद किया) मुंडा जाति के ही लोग थे। पाली साहित्य में साक्य राजा महानाम की दासी नाग-मुंडा का उल्लेख है।

मध्यभारत की आदिम जातियों में कहीं-कहीं द्रविड़ समाज का मातृ प्रधान कुल प्रचलित है। कुछ क्षेत्रों में परिवार पितृ प्रधान है। कुछ उदाहरण दोनों के मिश्र रूप हैं। इनके अलावा स्वयं उनकी अपनी भी भिन्न-भिन्न विवाह प्रथाएँ हैं। हो और सन्थाल में मामा या फूफी की लड़की से शादी हो सकती है लेकिन तब तक नहीं जब तक कि मामा या फूफी जिन्दा हो। खासी जाति में लड़का विवाह के बाद सास के यहाँ रहता है। वहाँ उसकी स्थिति हिन्दू परिवार की जैसी है। लेकिन थोड़े दिनों बाद वर-वधू अलग रहने लगते हैं। इस समय लड़के को अपनी माँ के खेतों में कुछ दिनों काम करना पड़ता है। उसकी मृत्यु होने पर लड़की अपने बच्चों के साथ अपनी माता के घर चली जाती है।

प्रगति-परम्परा

आज हम जिस सभ्य जगत और उन्नत समाज में निवास कर रहे हैं, उसमें हम बहुत-सी बातों को स्वयंसिद्ध मान लेते हैं। आज एक नन्हा-सा बच्चा भी जानता है कि दो और दो चार होते हैं, परन्तु गणित शास्त्र के इस निम्नतम स्तर तक पहुँचने में भी मानव जाति को कितनी कठिनाई पड़ी और कितना समय लगा, यह एक रोचक और आकर्षक इतिहास है और साथ ही शिक्षाप्रद भी; क्योंकि यह मानव जाति की प्रगति की एक दिशा का संकेत करता है और इस प्रकार, सफल परिणति की एक-एक कुंजी भी हमारे सामने रख देता है। प्रस्तुत पंक्तियों में, मानव जाति की प्रगति के इतिहास के ही एक अध्याय की समीक्षा की गई है।

प्राणिजगत में अकेला मनुष्य ही संस्कृति-सम्पन्न है। मानवशास्त्र के अनुसार इस संस्कृति की यह परिभाषा की जाती है कि यह संचार शक्ति सम्पन्न बुद्धि है, अर्थात संस्कृति वह बुद्धि है जिसका संचार एक से दूसरे में हो सकता है। बुद्धि सतत विकासशील है। शिशु जब जन्म ग्रहण करता है तो वह बुद्धि का गट्ठर अपने साथ बाँध कर नहीं ले आता, जिसमें से, शिशु के बढ़ने के साथ-साथ, नई-नई चीजें निकलती रहें। वह स्वयं अपने अनुभव से तथा माता-पिता के उदाहरण से और समाज की शिक्षा से लाभ उठाकर, इस बुद्धि को प्राप्त करता है और धीरे धीरे इसमें निरन्तर वृद्धि करता

रहता है। शिशु जन्म-काल से ही न तो बुद्धिमान होता है और न निर्बोध। जैसे एक अंकुर मिट्टी, जल और सूर्यालोक से रस संग्रह कर एक विशाल महीरुह में परिणत होता है, उसी प्रकार शिशु भी आवेष्टनी और वातावरण से बुद्धि की खूराक संग्रह कर, एक बुद्धिमान मनुष्य में परिणति लाभ करता है। यदि उसके अवयवों का संगठन दोष या त्रुटि रहित हो, तो उसकी बुद्धि का परिमाण और उसकी परिपक्वता उस वातावरण पर निर्भर होती है, जिसमें वह पलता है। मनुष्य के मस्तिष्क का संगठन ही इस क्रिया को संभवपर बनाता है।

मनुष्येतर जीव कुछ सहजात वृत्तियाँ साथ लेकर पैदा होते हैं और अपने जीवन-संघर्ष में उन्हीं पर निर्भर रहते हैं। ये सहजात वृत्तियाँ एक बंधी हुई परिस्थिति में तो काम दे जाती हैं, परन्तु परिवर्तित परिस्थितियों का मुकाबला करने की शक्ति उनमें नहीं होती है। इसलिए प्रतिकूल परिस्थिति में वे जीवन-संघर्ष में टिक नहीं पातीं। इसके विपरीत मानव मस्तिष्क परिवर्धनशील है और परिवर्तित अवस्थाओं में अपने को खपाने की उसमें क्षमता है। यह ध्यान देने की बात है कि शिशु का मस्तक कितना कोमल होता है। इसी कोमलता के कारण उसके मस्तिष्क का विस्तार और विकास संभवपर होता है। इस मस्तिष्क के विस्तार और विकास का इतिहास ही मानव जाति की प्रगति का इतिहास है।

मानव-प्रगति के मार्ग में शब्द और वाक्यों का उद्भावन सब से पहला विशाल स्तम्भ है। मनुष्य के अवयवों का संगठन

इस तरह का है कि वह अनेक प्रकार के स्पष्ट स्वरों को उच्चारित कर सकता है और किसी एक स्वर अथवा स्वर-समूह का सम्बन्ध बाहरी दुनिया की किसी एक घटना अथवा घटना-समूह से जोड़ा जा सकता है। उदाहरणार्थ भालू शब्द एक लोमश खतरनाक जानवर का चित्र हमारे सामने उपस्थित करता है। पहले पहल जो शब्द बने, उनसे शायद तत्काल एक वस्तु विशेष का बोध हो जाता है। मोर पोर्क एक आस्ट्रेलियन उल्लू का नाम है और इस शब्द से उस उल्लू की आवाज का एक सादृश्य है। फिर भी किसी शब्द के अर्थ की सीमा बाँधने के लिए और उसे एक स्पष्ट बोध प्रदान करने के लिए जनसमूह की स्वीकृति आवश्यक है। ऐसे स्वर, जिनसे स्वयं वस्तु विशेष का बोध होता हो; बहुत ही सीमित हैं। भाषा या बोलचाल वास्तव में एक सामाजिक उपज है। केवल समाज के अन्दर और उसके सदस्यों द्वारा मौन स्वीकृति दी जाने के कारण ही, शब्दों का अर्थ सम्भव है और उनसे वस्तुओं अथवा घटनाओं का बोध हो सकता है।

परन्तु मनुष्य-परिवार एक आवश्यक सामाजिक इकाई है। अब देखिये, मानव-शिक्षा का एक अत्यावश्यक अंग है बच्चे को बोलने की शिक्षा देना। इसका अर्थ यह है कि बच्चे को किसी स्वर या स्वर-समूह का उच्चारण सिखाया जाता है और किसी वस्तु या घटना विशेष से उनका सम्बन्ध जोड़ दिया जाता है। एक बार जब यह प्रक्रिया चालू हो जाती है है तो माता-पिता अपने बच्चों को उन स्थितियों का मुकाबला करने की शिक्षा भी दे सकते हैं, जिनका वास्तविक उदाहरण

उपस्थित करना उनके लिए सम्भव नहीं है। एक वच्चे के लिए यह आवश्यक नहीं कि एक भालू उसके परिवार पर आक्रमण करे और तव वह यह सीखे कि उससे किस प्रकार अपने को वचाया जाय। भाषा के सहारे, खतरे की अनुपस्थिति में ही, वड़े छोटों को, उस खतरे की आगाही दे सकते हैं और उसके मुकावले का उपाय वता सकते हैं। और वोल-चाल, माता-पिता के लिए, केवल अपने अनुभवों को वच्चों के सामने व्यक्त करने का एक वाहन अथवा साधन-मात्र नहीं है। यह वोलचाल एक ही भाषा वोलने वाले जनसमूह के सदस्यों के वीच सम्पर्क स्थापित करने का और विचारों के आदान-प्रदान का भी एक साधन है। एक सदस्य अपने साथियों को वतलाता है कि उसने क्या देखा और क्या किया और सभी सदस्य अपनी क्रिया-प्रतिक्रियाओं की तुलना उनसे कर सकते हैं। इस प्रकार एक पूरे दल के अनुभवों की एक समष्टि वन जाती है। माता-पिता अपने वच्चों को न केवल अपने ही व्यक्तिगत अनुभवों को, वल्कि अपने दल के सामूहिक अनुभवों से भी अवगत कराते हैं।

यही परम्परा, क्रमानुवर्धित रूप में, पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली जाती है। आदिम मानव और आधुनिक मानव के शारीरिक संगठन में अन्तर नाममात्र का या नहीं के वरावर है, परन्तु दोनों की संस्कृतियों में महान अन्तर है। व्यक्तियों के नये-नये अनुभवों से सामूहिक परम्परा की श्री-वृद्धि और कलेवर-वृद्धि ही इसका मुख्य कारण है।

इन्हीं अनुभवों के आधार पर मानव सभ्यता का विकास

होता आया है। पिछले युग की सभ्यता को तीन व्यापक भागों में विभक्त किया जाता है—पाषाण-युग, पीतल-युग और लोह-युग। जब आदमी केवल नुकीले पत्थरों से ही शिकार करता है या जमीन खुरचता है, उसके मुकाबले कहीं अधिक अनुभव प्राप्त करने के बाद ही मनुष्य पीतल युग में प्रवेश करता है। एक पत्थर की कुल्हाड़ी के मुकाबले, एक पीतल की कुल्हाड़ी बनाने के लिए कहीं अधिक जानकारी की जरूरत है। उसे तांबा और टिन आदि खानों की पहचान की जरूरत पड़ती है, और उन्हें गलाकर पीतल बनाने के लिए रसायन का भी कुछ ज्ञान आवश्यक है। इसी प्रकार ज्ञान-विज्ञान के और अधिक प्रसार से ही मनुष्य ने लोह-युग में प्रवेश किया। ध्यान में रखने की बात यह है कि अब भिन्न युगों के ज्ञान-स्तर से उन युगों में जीविका के भिन्न-भिन्न उपायों का भी एक संकेत मिलता है। यही अर्थ-व्यवस्था है जो जाति-वृद्धि और तत्कारण जाति की सफलता का भी निर्णय करती है। पाषाण-युग में लोगों को जंगली फल-मूल और जानवरों तथा मछलियों के शिकार पर ही अपनी जीविका के लिए निर्भर रहना पड़ता था। ऐसी अवस्था में प्रकृति-प्रदत्त खाद्य के द्वारा ही उनकी संख्या की एक सीमा बंध जाती थी और स्वभावतः वह संख्या अधिक नहीं थी। पीतल के प्रयोग के साथ विशेष प्रकार के उद्योगों का अस्तित्व और व्यापार-वाणिज्य का संगठन अनिवार्य रूप से हो जाता है। खाद्य उत्पादन की बचत की मात्रा से ही एक समुदाय उन कारीगरों को खिला-पिला सकता है जो खाद्य के उत्पादन को

प्रक्रिया से हटकर पीतल के औजार बनाने में लग जाते हैं। इस वचत की जरूरत सौदागर, शिल्पी, सिपाही, पुरोहित और लिपिकों आदि के लिए भी पड़ती है। पुरातत्व के स्मृति-चिह्नों से यह सावित होता है कि इस युग में जनसंख्या में भी काफी वृद्धि हुई। पीतल तो फिर भी महंगा पड़ता था, लेकिन लोहे की खानें तो जहाँ-तहाँ विखरी मिलती थीं और सस्तेपन के कारण वहुत लोग लोहे के औजार रख सकते थे। इन सस्ते लोहे के औजारों के कारण ही जंगल काटकर खेती का विस्तार सम्भव हो सका और साथ ही पीतल युग की अपेक्षा इस युग में जन-संख्या में और भी वृद्धि हुई।

साथ ही किसी अर्थ-व्यवस्था में जीविका के उपाय भेदों के कारण विभिन्न श्रेणियों की उत्पत्ति होती है, विभिन्न क्षेत्रों में सभ्यता का स्तर भी भिन्न हो सकता है, सभ्यता के समान स्तर पर भी दो भिन्न क्षेत्रों में जीविका के उपाय भिन्न हो सकते हैं। इनमें से किसी एक क्षेत्र का जनसमुदाय दूसरे क्षेत्र को प्रवजन कर सकता है, एक क्षेत्र का जनसमुदाय दूसरे क्षेत्र के, चाहे वह सभ्यता के समान स्तर पर हो या निम्न स्तर पर हो, जनसमुदाय पर चढ़ाई कर सकता है, एक ही श्रेणी में कोई व्यक्ति विशेष प्रभुत्व का अधिकारी वन सकता है और इन्हीं तमाम क्रिया-प्रतिक्रियाओं के कारण सभ्यता जटिल से जटिलतर होती आयी है और प्रगति का पथ उन्मुक्त होता गया है। इनमें से प्रत्येक क्रिया-प्रतिक्रिया दीर्घकाल तक घटती रही और प्रत्येक का इतिहास आकर्षक है।

उस अतीत काल में जादूगर वही था जो किसी नवीन

विद्या को आयत्त कर लेता था। प्रथम शिल्पी भी एक जादूगर ही था। जादूगर का डण्डा राजदण्ड का ही एक पूर्व रूप था। यह ऐतिहासिक तथ्य की बात है कि मिस्र और बाबीलोनिया में भी प्रथम राजाओं के अभ्युदय का सम्बन्ध वर्ष-पंजिका के प्रणयन से रहा है। मिस्र की खेती नील नदी की बाढ़ पर निर्भर है। यह बाढ़ प्रति वर्ष एक नियत समय पर ही आती है। वर्षों के निरीक्षण के बाद जिस व्यक्ति ने पहले से इस बाढ़ की तिथि की भविष्यवाणी की, जनता में उसकी पूजा होने लगी, क्योंकि जनता ने यह समझा कि वह व्यक्ति नील नदी के जल को इच्छानुसार नियन्त्रित कर सकता है। उस जनता में इतना सूक्ष्म ज्ञान नहीं था कि भविष्यवाणी और नियन्त्रण में वह कोई पार्थक्य कर सके। इधर दो बाढ़ों के बीच का निश्चित समय एक राजकीय वर्ष मान लिया गया और वहीं से वर्ष पंजिका का सूत्रपात हुआ। यह वर्ष वास्तव में सौर्य वर्ष ही है यद्यपि इसमें प्रायः ६ घंटों का अन्तर गिनती में पड़ जाता है परन्तु इस त्रुटि की गणना से ही आज यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इस पंजिका का प्रचलन ईसा पूर्व सन् ४२३६ में हुआ या सन् २७७६ में।

खेती के साथ शिल्प के विस्तार से सभ्यता का प्रसार हुआ और जब आवश्यकता से अधिक खाद्य उद्वृत्त रहने लगा तो व्यापार में भी वृद्धि हुई और इस वृद्धि के कारण लेखन-कला और गणित की आवश्यकता पड़ी और जो लिपिक या गणितज्ञ बने, उनकी, किसानों और शिल्पियों से भिन्न, एक पृथक श्रेणी बन गयी। बोलचाल के बाद, लिपि का आविष्कार

मानव-प्रगति के मार्ग में दूसरा वड़ा स्तम्भ है। लिपि के आविष्कार ने सभ्यता के विकास में एक नई क्रान्ति उपस्थित कर दी। आज लिखना-पढ़ना दैनन्दिन जीवन का एक अंग स्वरूप है परन्तु इसका प्रथम आविष्कार एक जादू के समान ही रहा है। सुमेर सभ्यता के प्राथमिक युग में मन्दिरों के साथ प्रभूत सम्पत्ति जुड़ी होती थी, मवेशियों के झुण्ड और प्रचुर आमदनी पर पुजारियों का अधिकार होता था। पुजारी लेन-देन भी करते थे। इनका हिसाव रखना स्मृति शक्ति के वाहर हो गया। तव हिसाव रखने की आवश्यकता पड़ी और लिपि का आविष्कार भी आवश्यक हो गया। ईसा पूर्व ३००० वर्ष के ऐसे आलेख्य पुरातत्व के संग्रह में मिलते हैं। जली मिट्टी के एक तख्ते पर एक घड़ा, वैल का एक सिर और दो त्रिकोण आदि अंकित हैं। घड़े से अनाज का परिमाण और वैल के सिर से मवेशियों की संख्या आदि का अर्थ लगाया जाता है। इस प्रकार के चिह्नों से ही लिपि और लेखन-क्रिया का प्रारम्भ हुआ है। वोलचाल की तरह इसके लिए भी सामूहिक स्वीकृति की आवश्यकता पड़ी होगी। यह लिपि भी वस्तु विशेष के चित्रण से शुरू होकर प्रतीक-मात्र वन गयी। भाषा और लिपि के कारण ही कृषि, शिल्प और वाणिज्य में एक क्रान्तिकारी उन्नति सम्भव हो सकी और उसी की परिणति हम आधुनिक सभ्यता में पाते हैं।

परन्तु आज की सभ्यता भी कोई अन्तिम परिणति नहीं है। जव तक मनुष्य के मस्तिष्क का प्रसार और विकास सम्भव होगा तव तक प्रगति की परम्परा कायम रहेगी।

कुछ आदिम जातियाँ और उनकी विशेषताएँ

याहगान—दक्षिण अमेरिका के धुर दक्षिण में टिएरा डेल पयुगो द्वीप समूह के दक्षिण तट पर बहुत कदीम और अतिशय निम्न स्तर की आदिम जाति याहगान का निवास स्थान है। इस स्थान का तापमान वर्फ जमने के तापमान से बहुत नीचे नहीं जाता लेकिन बारहों महीने इतनी ठण्डी तूफानी हवा चलती है और पानी भी इतना वरसता रहता है कि यह ताज्जुब करना पड़ता है कि कोई आदिम जाति जिसके पास मकान बनाने या शरीर ढकने के विशेष साधन नहीं हैं, यहाँ जीवित कैसे रह सकती है। लेकिन याहगान औरतें हड्डी जमाने वाले पानी में गोता लगा कर सील मछली पकड़ती हैं और यही मछली याहगान का मुख्य खाद्य है।

याहगान कोई संगठित जाति नहीं है। वे सब यही जानते हैं कि वे एक ही क्षेत्र के निवासी हैं और अपने पड़ोसियों से भिन्न हैं, यानी दूसरों के विरुद्ध याहगान जाति के किसी व्यक्ति की रक्षा करना वाकी का कर्तव्य है। लेकिन मिले-जुले काम के लिए कोई संगठन नहीं है। ये लोग ऊँचे कद के नहीं होते। शरीर मोटा लेकिन हाथ पैर पतले और छोटे हैं जिससे ये ठिगने दिखाई पड़ते हैं। तट भूमि पर घना जंगल है इसलिए उन्हें अधिकांश समय पानी में ही विताना पड़ता है या नुनकिन

ऊँची जगहों पर। सील मछली का वे शिकार करते हैं और पानी के अन्दर भी वे उसे खदेड़ते हैं। कभी कभी ह्वेल मछली भी उन्हें मिल जाती है। कोई मरी हुई ह्वेल किनारे पर आ लगे तो सारे समूह को कई दिनों का भोजन मिल जाता है। ह्वेल छिछले पानी में फँस जाय तो उसका शिकार भी किया जाता है। लेकिन भाले के अलावा मछली पकड़ने या मारने का और कोई सरंजाम उनके पास नहीं है। सील मछली, जैसाकि पहले ही कहा जा चुका है, उनका मुख्य आहार है। पेड़ों के छोटे फल या वेर और कुकुरमुत्ता जैसी एक पेड़ की उपज से ही उनकी सब्जी का काम चलता है। इनको भी वे वटोरते रहते हैं। वड़ी वत्तख या चिड़ियायें भी वहाँ मिलती हैं लेकिन जाल आदि साधनों के अभाव के कारण वे इन्हें पकड़ नहीं पाते। लेकिन वड़ी चिड़िया पड़कने का उनका एक अजीव तरीका है। चिड़ियों का कोई वड़ा दल रात को पहाड़ी के ऊपर वसेरा डालता है तो शिकारी चुपचाप अँधेरे में किसी एक चिड़िया को पकड़ लेता है। एक हाथ से वह वाजू पकड़ता है और दूसरे से उसकी टोंटी दाव देता है। चिड़िया न वाजू फड़फड़ा सकती है न कोई आवाज कर सकती है। फिर शिकारी दाँत से उसका गला काटकर अलग डाल देता है और दूसरी चिड़िया पर इसी प्रकार का वार करता है। इस तरह एक ही रात में समूचे झुण्ड को भी खत्म कर दिया जाता है।

याहगान का अधिकाँश समय छोटी-छोटी नावों पर ही वीतता है। लेकिन नैया भी मजबूत किस्म की नहीं होती। औरत नाव खेती है और मर्द पतवार पर वैठे भाले से मछली

शंकु के श्राकार का यहगान कुटीर

का शिकार करता है। 'बीच' वृक्ष की छाल से बनी नाव, कहीं किनारे से टकरा कर टूट न जाय, इसलिए किनारे से कुछ दूर ही लंगर डाल दिया जाता है। सील मछली का चमड़ा वे, कभी-कभी, सर्दी से बचाव के लिए, सीने पर डाल लेते हैं लेकिन चमड़ा वे कमा नहीं सकते इसलिए वह सख्त हो जाता है और उसे पहनना वे पसन्द नहीं करते। मर्द, औरत और बच्चे नंगे ही घूमते फिरते हैं। बदन पर वे चर्बी या तेल मल लेते हैं जिससे तेज हवा से कुछ बचत रहती है और समुद्र के नमकीन पानी से भी। रहने के लिए, लचीली लकड़ियों से बने शहद की मक्खियों के छत्ते जैसी शक्ल के मकान वे बना लेते हैं। इस पर घास, फूस, पेड़ की छाल आदि डाल दिये जाते हैं। दूसरा नमूना शंकु जैसा मकान है। लकड़ी और डण्डे गोलाई में डाल कर शंकु का आकार बनाया जाता है। इसे भी छा दिया जाता है। इनमें से धुंआ निकलने की जगह नहीं होती। इसलिए याहगान घर में रहता है तो उसकी आँखें लाल होकर सूज जाती हैं।

श्रम का बटवारा एक मात्र मर्द और औरत के बीच होता है। याहगान जाति में औरतों का स्थान सम्मानपूर्ण है, शायद इसलिए कि खाद्य संग्रह में उनका महत्वपूर्ण भाग होता है। ज्यादातर काम औरत और मर्द मिलकर करते हैं। आदमी शिकार करता है तो औरत नाव खेती है। मकान दोनों मिल-कर बनाते हैं। पर-पुरुष या पर-स्त्री-सहवास को बुरी नजरों से देखा जाता है। तलाक की प्रथा भी है लेकिन सामान्य कारणों से तलाक नहीं दिया जाता। झगड़ा अक्सर तभी होता

है जबकि पुरुष निर्दयी हो या स्त्री आलसी हो। लेकिन पति मर जाये तो उसके किसी भाई से बेवा की शादी हो जाती है। पारिवारिक सम्वन्ध में वाप चाचा या वेटे भतीजों का भेद स्पष्ट किया जाता है। चचा और मामा के लड़के-लड़कियाँ भाई वहन कह कर ही पुकारे जाते हैं और दूसरी पीढ़ी तक उनमें शादी निषिद्ध है। इस प्रकार चचेरे भाई वहन एक ही गोत्र के माने जा सकते हैं। मौसी वहन की लड़की के कल्याण और चचा भतीजे के कल्याण में काफी दिलचस्पी लेता है। दामाद सास-ससुर की मदद करता है, उन्हें भेंट देता है और उनके प्रति काफी श्रद्धा रखता है।

याहगान को यौन क्रिया और प्रजनन के सम्वन्ध का ज्ञान है। लड़कियाँ और लड़के, लगभग सात साल की उम्र तक मिल कर खेलते हैं लेकिन इसके वाद दोनों अलग कर दिये जाते हैं। दोनों के लिए वयः संस्कार की रीति वहुत साधारण है। मृत्यु संस्कार या दाहक्रिया कुछ जटिल होती है। मृत व्यक्ति के निजी सामान भी जला दिये जाते हैं, निकट सम्वन्धी शरीर काला रंग लेते हैं, उपवास करते हैं, कभी-कभी सीने पर भी माँस काट देते हैं। मृतकों की प्रेतात्मा से याहगान वहुत डरते हैं, इसलिए जहाँ मौत होती है, उस शिविर को ही वे छोड़ देते हैं। मृत पुरखों की पूजा या उनके प्रति प्रार्थना वे नहीं करते। लेकिन हर एक की एक वन्धु प्रेतात्मा होती है जिससे वे मदद की उम्मीद रखते हैं।

उनमें कोई पुरोहित नहीं होते लेकिन अमेरिकन इंडियनों की भाँति शमन या वैद्य होता है। यह विश्वास किया जाता है

कि शमन मौसम को प्रभावित कर सकता है और हो रहे किसी काम के विषय में भविष्यवाणी कर सकता है परन्तु उसका मुख्य काम बीमारी का इलाज करना है। समझा जाता है कि बीमारी किसी बुरे या दुश्मन शमन की करतूत है। इसलिए इलाज का उद्देश्य शमन द्वारा शमन के जादू का काटना है। अन्य इंडियनों की भांति आत्मा के खो जाने की धारणा याहगान में भी प्रचलित है। याहगान इस धारणा के वशीभूत हैं कि बुरा शमन किसी की आत्मा को चुरा सकता है जबकि दूसरे शमन का काम उसका उद्धार करना है। याहगान-सृष्टित्व या पौराणिक कहानियाँ अन्य आदिम जातियों जैसी ही हैं लेकिन इसमें गहराई या जटिलता नहीं है। पौराणिक कहानियां व्याख्यात्मक हैं—चाँद में कलंक क्यों है या सूरज का उदय कैसे होता है। कुछ नीति मूलक हैं जिसमें बुराई करने वाले को सजा अवश्य मिलती है। प्रलय की कहानियां भी हैं जबकि सूर्य द्वारा बाढ़ बुलाई जाती है या समुद्र में चाँद गिर पड़ने से बाढ़ आ जाती है।

सवाल उठता है कि प्रतिकूल प्रकृति से जूझ कर प्रगति की इच्छा याहगान में क्यों नहीं पाई जाती है। इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि संस्कृति चाहे जितनी सरल हो, जब वह प्राचीन हो जाती है, तो आस-पास की प्रकृति से उसका मेल बैठ जाता है और फिर परिवर्तन की इच्छा मिट जाती है। फिर बाहर के दबाव से ही परिवर्तन सम्भव है। लेकिन याहगान का अन्य जातियों से कोई सम्पर्क नहीं रहा। उनमें बुद्धि का अभाव नहीं है, इसका पता इसी से चलता है कि उनके जो दो-चार बच्चे

इंगलैंड ले जाये गये थे उन्होंने बहुत जल्द ब्रिटिश संस्कृति में अपने को खपा लिया। लेकिन वे बच्चे जब टिएराडेल फ्युगो को वापस गये तो नयी संस्कृति को तिलांजलि देकर वे अपनी पुरानी संस्कृति में फिर से दाखिल हो गये।

अन्दमानी—अन्दमान द्वीपों का प्राकृतिक रूप टियरा डेल फ्युगो के प्राकृतिक रूप से बिलकुल भिन्न है। अन्दमानी जाति भी याहगान जाति से बहुत भिन्न है। अन्दमान निवासी आदिम लोग बावने नीग्रो या नेग्रिटो जाति के हैं। जंगल निवासी नेग्रिटो प्राचीन काल में दूर दूर तक फैले हुए थे। अन्दमानी भी बहुत हद तक फिलिपाइन्स, मलय, न्यूगिनी और काँगो प्रदेश के अफ्रीकन नेग्रिटो से बहुत मिलते जुलते हैं। एक समय इनमें परस्पर सम्पर्क रहा होगा लेकिन आज के अन्दमानी एक पृथक समूह के सदस्य हैं और शायद उनमें मूल नेग्रिटो संस्कृति आज भी मौजूद है। उनकी भाषा भी बिलकुल भिन्न है।

अन्दमान द्वीपों की आबोहवा गर्म और नम है। मई से नवम्बर तक काफी पानी बरसता है। बाकी साल में मौसम खुश्क रहता है। नदियाँ विरल हैं और बड़ी नहीं हैं। बरसात का पानी अन्दर दलदलों में जमा रहता है।

अन्दमानी खेती नहीं करते और न उनके पास पालतू जानवर ही हैं। लेकिन खाने लायक जंगली फल मूल, मछली और शिकार के लिए जानवरों की इफरात है। जंगलों में मुख्य रूप से सूअर का शिकार किया जाता है। चिड़ियाँ भी बहुत हैं लेकिन उनके पकड़ने के लिए जाल नहीं हैं। अधिकांश

निवासी समुद्र या छोटी नदियों के किनारे बसते हैं। सामुद्रिक स्तन्यपायी दुगोंग, कछुए, केकड़े या मछली उनके मुख्य आहार हैं। शिकार को जाते हुए या लौटते हुए या चलते-फिरते हर एक जंगली शहद के लिए नजर दौड़ाता रहता है और मिलने पर घर ले जाता है।

मछली पकड़ने के जाल हैं, छोटे भालों से भी मछली का शिकार किया जाता है लेकिन चारा डाल कर मछली नहीं पकड़ी जाती। बड़ी मछलियों के शिकार के लिए वे तीर धनुष का भी इस्तेमाल करते हैं। जंगलों में भी तीर-धनुष से ही शिकार किया जाता है। जहरीली नोक वाले तीरों का इस्तेमाल कोई नहीं जानता। औरतें लकड़ियों से कन्द मूल खोदती हैं। औजार लकड़ी, पत्थर या कौड़ियों से ही बनाये जाते हैं। नाव या नैया बड़े लट्ठे खोखले करके ही बनायी जाती है। बत्ती वाली उनकी मिट्टी की अंगीठी विशेष प्रकार की होती है। लेकिन आग जलाना उन्हें नहीं आता। इसलिए आग बराबर जलायी रखी जाती है। कुछ कौड़ियां लोटे के काम में आती हैं और कुछ खाना परोसने के काम में। खानाबदोश जनजातियों के मुकाबले उनका सोने का साधन अच्छा है। वे चटाई पर सोते हैं और कभी-कभी लकड़ी को तकिया बना लेते हैं।

अन्दमानी गांव गोलाई में बसे होते हैं। हर कुटिया में एक परिवार रहता है। कुटिया पर चटाई की छत होती है और दोनों बगलें खुली होती हैं। गोलाई के बीच का मैदान नाच के लिए है। कभी-कभी सामूहिक गोल-घर बनाया जाता

है। व्यास ६० फीट तक का हो सकता है। इसके वाहर-वाहर परिवारों की भिन्न भिन्न शयन कक्षाएँ हैं। गोल-घर के बीच नाच के लिए जगह छोड़ दी गई होती है। वरसात में वे इन घरों में ही रहते हैं। लेकिन खुश्क मौसम में वे घूमते फिरते रहते हैं। ऐसे समय, वाहर, सामयिक डेरे भी डाले जाते हैं और ये डेरे भी गोलाई में ही डाले जाते हैं। वालिग अविवाहितों के लिए इसमें अलग कुटिया होती है। इस कुटिया के पास बीच के नाच के मैदान के पास कई चूल्हे वनाये जाते हैं जिनमें अविवाहित लोग समय-समय पर सारे गाँव के लिए ज्योनार पकाते हैं।

घूमते-फिरते हुए भी ये लोग बीच-बीच में अपने गाँव को चले जाते हैं। घूमने-फिरने का उनका वँधा हुआ रास्ता होता है और जिस क्षेत्र में वे घूमते-फिरते हैं वहाँ किसी वाहरी को वे घुसने नहीं देते। यह क्षेत्र और उसके प्राकृतिक साधन समूचे दल की सामूहिक सम्पत्ति हैं। सभी सदस्यों का इसमें समान अधिकार है। सामूहिक सम्पत्ति की यह धारणा आदिम जगत् में आम तौर पर पाई जाती है। लेकिन कोई-कोई विशेष पेड़ों पर दावा कर सकते हैं। कोई पेड़ जंगली फलों का हो सकता है या वह नाव वनाने लायक होता है। इस प्रकार के अधिकार अन्य आदिम जातियों में भी देखे जाते हैं। वाकी जमीन पर सामूहिक अधिकार भी साधारण रीति है। औरतें जो फलमूल इकट्ठा करती हैं वे उन्हीं की मानी जाती हैं लेकिन किसी वड़े जानवर का शिकार किया गया हो या सब्जी ढेर-सी इकट्ठी की गई हो तो वह सारे समु-

दाय में बाँट दी जाती है। औजार, कपड़े, नाव या आभूषण जैसी साथ ले जा सकने वाली चीजें व्यक्तिगत सम्पत्ति ही होती हैं। लेकिन अन्य कदीम जातियों की भांति अन्दमानी भी अतिथि परायण होते हैं, भेंट आदि अवसर देते रहते हैं और अपनी चीजें औरों को उधार भी देते हैं। इस प्रकार समाज में सम्पत्ति की प्रायः समानता हुआ करती है।

समता अन्दमानी समाज का आर्थिक विशेषत्व है और सामाजिक विशेषत्व भी। यह ठीक है कि मर्द और औरतों में और बड़ी और छोटी उम्र वालों में विभेद किया जाता है लेकिन परिवारों में कोई बड़ा छोटा नहीं होता है। प्रशासन जैसी कोई व्यवस्था नहीं है। कोई सरदार या मुखिया भी नहीं है। समूह सम्बन्धी फैसले सामूहिक तौर पर किये जाते हैं, जिसमें बड़ों का प्रभाव छोटों की बनिस्बत अधिक होता है। कोई कानून नहीं है और न अपराधों की सजा की ही कोई विधि है। व्यक्तिगत अपराधों के लिए, जिसमें पर-स्त्री-गमन भी शामिल है, हानिग्रस्त पक्ष बदला चुकता है। झगड़ालूपन, आलस्य या बड़ों के प्रति सम्मान का अभाव जैसे समाज विरोधी कार्यों के लिए सजा की व्यवस्था तो नहीं है लेकिन जनमत के प्रभाव के कारण ये दोष उभर नहीं पाते। कोई असद्व्यवहार करता है तो वह जनप्रिय नहीं होता और उसकी मर्यादा भी घट जाती है।

स्थानीय समूहों के बीच सम्बन्ध के भी कोई नियम नहीं हैं। प्रत्येक दल स्वतन्त्र है और दलों में सम्बन्ध केवल इतना ही है कि एक दल का सदस्य दूसरे दल के सदस्य से कभी

कभी मिलने जाता है या दावत और नाच के लिए विभिन्न दलों के सदस्य इकट्ठे हो जाते हैं। किन्हीं दो दलों में युद्ध कदापि नहीं होता। लेकिन शिकायत हो तो पलटा जवाव दिया जाता है और यह भी नतीजा निकल सकता है कि पारिवारिक वदले चलते रहें।

दल के संगठन का एकमात्र आधार रिश्ता है। लेकिन अन्दमानियों में रिश्तों की संख्या वहुत कम होती है। लोग नाम से ही पुकारे जाते हैं जवकि अन्य जातियों में अमुक का पति या अमुक की वहू, अमुक का वाप आदि शब्दों से ही लोग सम्वोधित किये जाते हैं। कोई रिश्तेदार न भी हो तो कल्पित रिश्तेदारी का नाता जोड़ कर उन्हें पुकारा जाता है। रिश्तेदारी का दायरा कम होने का विशेष कारण यह है कि विभिन्न परिवारों के वच्चों का लालन-पालन प्रायः एक साथ होता है। माताएँ दूसरों के वच्चों को भी दूध पिलाती हैं। तीन चार साल तक वच्चों को दूध पिलाया जाता है और वाद को वच्चे पूरे गाँव के वच्चे वन जाते हैं। एक और विशेष रिवाज यह है कि वच्चे ६ या ७ साल के हो जाते हैं तो अक्सर वे दूसरे परिवारों में गोद ले लिए जाते हैं। एक दूसरे के वच्चे गोद ले लेते हैं परन्तु पिता अपने वच्चे को कभी-कभी देखने जाता है। गोद लिये हुए वच्चे को भी कभी-कभी दूसरे को गोद लेने के लिए दे दिया जाता है, लेकिन इसकी सूचना उसके वाप को भी दी जाती है। युवावस्था का समय हो जाता है तो सभी लड़के घर छोड़कर अविवाहितों की कुटिया में रहने लगते हैं।

शादी वास्तव में परिवारों के बीच सम्बन्ध का एक साधन है। एक-विवाह का कठोर रिवाज है। बच्चा पैदा होने के एक महीने पहले और बाद पिता-माता खाद्य सम्बन्धी निषेधों का पालन करते हैं। इस काल में दोनों बच्चे को जो नाम दिया जाने वाला है, उसी के पिता-माता के सम्बन्ध से पुकारे जाते हैं। माता-पिता बहुत एहतियात रखते हैं कि कोई उन्हें उनके नाम लेकर न पुकारे। समझा जाता है कि इस एहतियात से होनहार बच्चे को कोई हानि नहीं हो पाती। बच्चा पैदा होते समय गाँव की वयस्का माताएँ गर्भवती स्त्री के पास जा पहुँचती हैं। स्त्री को अपनी कुटिया में ताजे पत्तों के आसन पर बैठाया जाता है। वह घुटनों को हाथों से दबा कर लकड़ी के एक तख्ते पर टेक लगा कर बैठती है। पास बैठी औरतों में से एक पेट का ऊपर का हिस्सा दबाती रहती है। नवजात शिशु को कौड़ी से खुरच कर नहलाया जाता है। शिशुकाल में ही बच्चा मर जाय तो ख्याल किया जाता है कि दूसरे बच्चे में ही वह पुनर्जन्म लेगा। इसलिए दूसरे बच्चे को भी वही नाम दिया जाता है।

विवाह के समय वधू मशालों से सुसज्जित नाच के मैदान के एक सिरे पर चटाई पर बैठाई जाती है। उनके मित्र और रिश्तेदार उसे घेर कर बैठ जाते हैं। फिर गाँव का कोई बड़ा-बूढ़ा वधू को उपदेश देता है। वर को भी वह उपदेश देता है और उसका हाथ पकड़ कर उसे वर के पास ले जाता है। वर वधू प्रसन्नचित्त साथ बैठते हैं और उनके मित्र और रिश्तेदार जोर जोर से रोते हैं। कुछ ही देर बाद बूढ़ा वर को वधू की गोदी

पर वैठा देता है। इसके वाद जव कभी दोनों एक-दूसरे का स्वागत करते हैं तो वर वधू की गोदी पर वैठ जाता है।

अन्दमानी विचारधारा में परिवर्तन का विलकुल भी स्थान नहीं है। सृष्टि का आरम्भ हुआ परन्तु एक वार चल पड़ने पर वह चक्रवत् घूमती रहती है। अन्दमानी अपने को सुविन्यस्त विश्व के अंग स्वरूप देखता है परन्तु इस विन्यास में कार्य-कारण सम्वन्ध नहीं है। वल्कि प्राकृतिक नियम नैतिक नियम जैसे ही हैं। सही या गलत का अर्थ प्रकृति के अनुकूल या प्रकृति के विपरीत काम करना है।

जीवारो—दक्षिण अमेरिका की अमेजन घाटी में ऐण्डीज पहाड़ की पूर्वी ढाल पर आदिम जीवारो जाति का निवास स्थान है। जीवारो नाम स्पेनिश आक्रमणकारी दल के नेता वेनावांत का दिया हुआ है। वे खुद अपने को शुआरा कहते हैं। उनका निवास स्थान दुर्गम है और छोटी नदियों की धारा वहुत तेज है इसलिए उन पर नाव आदि चलायी नहीं जा सकती। यही कारण है कि जीवारो की स्वतन्त्रता पर कोई हस्तक्षेप नहीं हो सका और आज भी वह एक स्वतन्त्र आदिम जाति की स्थिति में ही है।

जीवारो की जीवन प्रणाली अमेजन घाटी की अन्य आदिम जातियों जैसी ही है। अमेजन घाटी में प्रचुर जंगल होते हुए भी, प्रचलित धारणा के विपरीत, वहाँ जमीन वहुत उपजाऊ नहीं है। ऊँचे पेड़ों के तले घास नहीं उगती। इसलिए घास चरने वाले वड़े जानवर और शाकाहारी जानवरों के शिकार पर जीने वाले वड़े हिंसक जानवर यहाँ नहीं मिलते।

लेकिन घनी लताओं से घिरे पेड़ों के सिर पर बन्दर, चिड़िया और असंख्य छोटे जानवर या कीड़े-मकोड़े पाये जाते हैं।

जीवारो बन्दरों, चिड़ियों और कुछ अन्य जानवरों का भी शिकार करते हैं लेकिन उनका मुख्य आहार कुछ खाद्यान्न हैं जो औरतें उगाती हैं। साधारण आदिम तरीके से ही जंगल जला कर खेती के लिए जमीन साफ की जाती है। जलाने के पहले, पेड़ों के तने गोलाई से खुरचे जाते हैं। उनके पास केवल पत्थर के ही औजार होते हैं जिनसे अमेजन घाटी के सख्त मजबूत पेड़ों को काटा नहीं जा सकता। तने पर काफी खुरचन से पेड़ जब कुछ दिनों बाद सूख जाते हैं, तभी उन्हें गिराया और जलाया जाता है।

इस तरह जमीन साफ करने में काफी समय लग जाता है। जमीन के ये टुकड़े कोई पाँच साल तक ही खेती के लायक रहते हैं। इस बीच नये टुकड़े साफ कर लिए जाते हैं और खेती नये टुकड़ों पर होने लगती है। खेती का एकमात्र औजार लकड़ी है। मुख्य पैदावार गाँठ गोभी जैसी 'मैनिओक' है। मक्का, शकरकन्द और मटर भी बोये जाते हैं। केले और पपीते लगा तो दिये जाते हैं लेकिन फिर उनकी देखभाल नहीं की जाती। गैर खाद्यान्न पैदावारों में रुई और तम्बाकू है। किसी बड़ी नदी के पास रहने वाले मछली पकड़ने के लिए कई तरीके काम में लाते हैं। नदी में पानी कम हो तो बांध लगाकर पानी में एक वनस्पति का जहरीला रस डाल दिया जाता है। मछलियां बेहोशी की हालत में ऊपर उठ आती हैं फिर लोग उन्हें बटोर लेते हैं। मधु मक्खियों का शहद उन्हें

बहुत प्यारा है। बीज या फल खाने वाली चिड़ियों का शिकार किया गया हो तो अनाज का हिस्सा निकाल कर फौरन खा लिया जाता है। 'मैनिओक' का आटा बनाया जाता है। इससे शराब बनाने के लिए औरतें 'मैनिओक' दांत से कूच कर एक बड़े बर्तन में थूक देती हैं।

फूँक बन्दूक (ब्लो गन्) जीवारो का एक विशिष्ट हथियार है। बन्दूक बनाने के लिए खजूर की दो लकड़ियों को इस तरह काटा जाता है कि बाहरी हिस्सा गोल रहे और अन्दर का हिस्सा चपटा। चपटी सतह पर एक नाली इस तरह काटी जाती है कि दोनों लकड़ियों को जोड़ने से बीच में एक खोखली नाली रह जाय। अन्दर रेत और पानी डाल कर एक और लकड़ी घुमा कर बन्दूक की नाली को बिलकुल चिकना कर दिया जाता है। नाली के अन्दर खजूर के पत्ते की रीढ़ से बनी एक बारीक लकड़ी डाली जाती है जिसका व्यास दियासलाई के बराबर होता है। इस तीर को फूंकने से वह कोई ४५ गज दूर जा पड़ता है। तीर कारगर केवल इसलिए होता है कि उसकी नोक पर जहर लगा रहता है। बन्दरों या चिड़ियों को तीर लगने पर वे केवल आधे घण्टे तक ही जिन्दा रह सकती हैं।

जीवारो की सबसे बड़ी आकांक्षा योद्धा की ख्याति प्राप्त करना है। जो जितने सिर ले सके उसे उतनी ही ख्याति मिलती है। कोई दल दुश्मनों पर हमला करने का फैसला करता है तो रात भर नाच होता है और दुश्मनों को दूत भेज कर आगाह किया जाता है। लेकिन हमले की तैयारी का

उद्देश्य दुश्मनों पर अचानक टूट पड़ना है। युद्ध में बड़े-बूढ़े तो मारे जाते हैं लेकिन औरतें और बच्चे बन्दी कर लिए जाते हैं। ये बाद को आक्रमणकारी दल के सदस्यों की पत्नियां या पुत्र-पुत्री बन जाती हैं। युद्ध खत्म हो जाता है तो जिसने जिनको मारा है, वह उनके सिरों को बटोर लेता है। युद्ध स्थल से कुछ दूर हट कर इन सिरों को सिकोड़ा जाता है। सिकुड़ा सिर या त्सान्त्सा जीवारो की एक विशेष कलाकृति है। सिर का चमड़ा कई घण्टों तक उबाला जाता है जबकि वह सिकुड़ कर एक तिहाई मात्र हो जाता है। सुखाने या सिकोड़ने का काम पूरा करने के लिए सिर के अन्दर गरम पत्थर या रेत रख दिया जाता है। सुरक्षित रखने के लिए इसे कोई आठ घण्टे तक धूएँ में रखा जाता है। चेहरे के चमड़े पर पालिश की जाती है।

जीवारो की वयः संस्कार रीतियां दुखदायी नहीं हैं। लड़कियों को प्रथम मासिक होने पर, उनकी नाक में फूंक कर तम्बाकू का रस चढ़ाया जाता है। समझा जाता है कि इससे उन्हें बल मिलता है। लड़कों की जवानी पर दावत दी जाती है। अनेक आदिम जातियों में प्रचलित धारणा के विपरीत जीवारो जादू-टोना को बीमारी का कारण नहीं समझता। वह जानता है कि जुकाम, बुखार या पेचिश प्राकृतिक बीमारियां हैं। लेकिन कई बीमारियों के सम्बन्ध में यह समझा जाता है कि भूत-प्रेत शरीर में घुस कर लोगों को बीमार कर देते हैं। इन बीमारियों को अच्छा करने के लिए 'शमन', पीड़ित अंग को देर तक चूसता है, फिर एकाएक घर से निकल कर

कार्य कर देता है। समझा जाता है कि भूत को उसने वमन कर दिया है और इसी मौके पर घर के लोग भी भूत को भगाने के लिए शोरगुल मचाते हैं।

जीवारो मरता है तो लाश खोखली लकड़ी में भर कर मकान के वीच के खम्भे पर टांग दी जाती है। लकड़ी के खोखले हिस्से में उसके प्रिय हथियार भी डाल दिये जाते हैं और उसे लकड़ी की छाल से ढक दिया जाता है। छः दिनों के मातम के वाद लाश उठा कर एक छोटे मकान में डाल दी जाती है। जमीन पर उसके लिए भोजन भी रख दिया जाता है। इसके वाद दो साल तक हर महीने कोई न कोई आकर भूमि पर भोजन डाल देता है। जीवारो का विश्वास है कि मृत्यु के वाद जानवर के रूप में पुनर्जन्म होता है। वच्चे मरते हैं तो वे चिड़ियों में जन्म लेते हैं। कोई योद्धा मरता है तो वह चीता होकर जन्म लेता है। वह चीता दुश्मनों के पास के जंगलों में जा रहता है और उन्हें सताता रहता है। दो साल तक मुर्दे के लिए भोजन इसलिए रखा जाता है कि चीता वड़ा और पुष्ट होकर अपनी देखभाल स्वयं कर सके। इसके वाद टिकठी-उतार कर हड्डियाँ गाड़ दी जाती हैं।

माया—अमेरिका की आदिम संस्कृति, माया और इंका सभ्यता में चरम विकास पर पहुँची है। मेक्सिको के दक्षिण घने जंगलों में अनेक संख्यक पिरामिड और मन्दिरों के खण्डहर महिमा-सम्पन्न तो हैं ही, सुन्दर भी हैं। ये माया जाति की कृतियाँ हैं। लेकिन उनका वौद्धिक विकास और भी चमत्कारिक है। उनकी दिन पंजिका जटिल है परन्तु पूर्णतः आधुनिक

युकातान में चिचेन इत्ज़ा में माया संस्कृति का मंदिर और पिरामिड
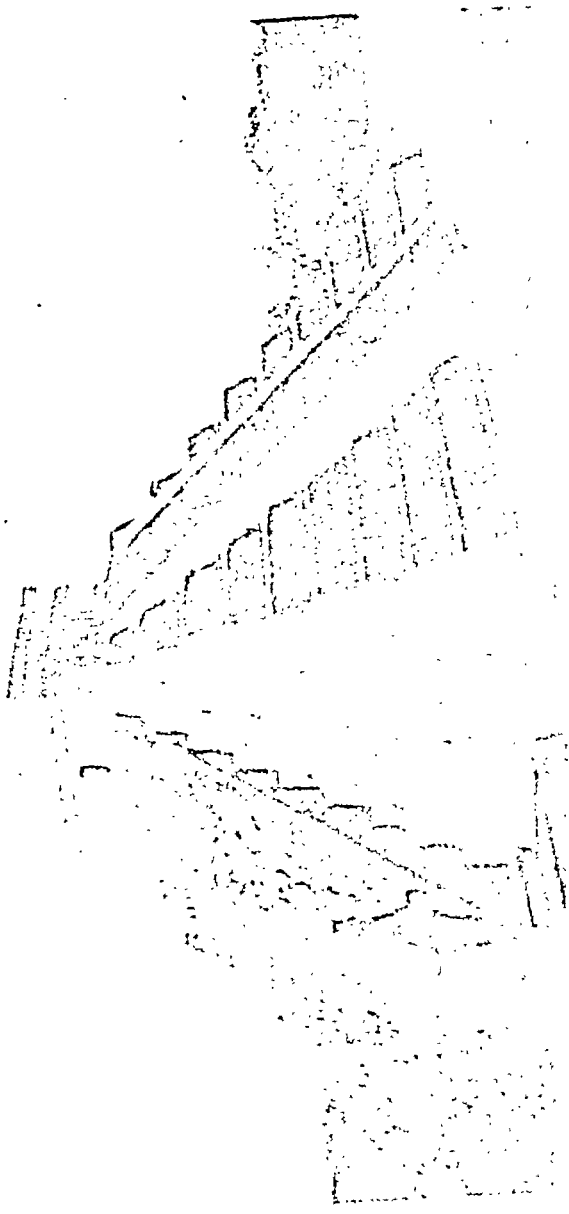
ज्योतिष-सम्मत है। उनकी चित्रलिपि पूर्व भूमध्य-सागर की प्राचीन लिपि के अनुरूप है। गणितशास्त्र के शून्य का आविष्कार उन्होंने भारतीयों से भी पहले किया।

माया सभ्यता नगर सभ्यता है, यद्यपि इसमें जनजातियों का जीवनक्रम वही बना रहा जैसा कि हजार वर्ष पहले भी वह रहा होगा। इस सभ्यता का उत्पत्तिकाल ईसा पूर्व कोई ५०० वर्ष है और लगभग सन् ३०० तक इसने एक स्पष्ट रूप ग्रहण किया। सन् ८०० तक यह सभ्यता अपने शिखर पर पहुँची। परन्तु सन् १२०० में युकाटान प्रदेश में उत्तर के आक्रमणकारियों के साथ इसका पुनरभ्युदय हुआ और फिर सोलहवीं शताब्दी में इसका अन्तिम पतन हुआ। ऐसा लगता है कि प्रशासकीय उच्च श्रेणी के सदस्यों ने ही इस सभ्यता को जन्म दिया और उस श्रेणी के पतन के साथ इस सभ्यता की भी समाप्ति हो गयी।

माया सभ्यता के जानकारों ने हिसाब लगाया है कि प्रत्येक परिवार को अपने खेतों पर साल भर में केवल ४८ दिन ही मेहनत करनी पड़ती थी और बाकी समय उन्हें पुरोहितों या शासक श्रेणी के लिए काम करना पड़ता था। उनके शोषण और उनकी मेहनत से ही माया नगर बने और इमारतें बनीं। माया सभ्यता अनेकांश में पुरोहितों के विचारों से जुड़ी हुई है। माया दिन पंजिका से भी देव-देवियों का संयोग है। उनकी लिपि का उपयोग भी धार्मिक कार्यों के लिए किया जाता रहा। इन धार्मिक कृत्यों में बलिदान का भी एक विशेष स्थान है। पशु या नरबलि से भी देवताओं की तुष्टि

की जाती थी। उनकी धारणा के अनुसार विभिन्न स्वर्ग लोकों पर विभिन्न देवताओं के राज्य थे। इस कल्पना में भूलोक को मिला कर १३ स्वर्ग लोक हैं जो पृथ्वी के ऊपर, एक के ऊपर एक अवस्थित हैं। इसी प्रकार पृथ्वी के नीचे भी पाताल लोक हैं और अन्तिम स्तर पर है यमलोक। इन देवताओं की प्रतिमाओं को जीभ, कान, होठ आदि छेद कर खून चढ़ाया जाता था। नर वलि के लिए युद्ध के किसी वन्दी को ही चुना जाता था। उसे नंगा कर नीला रंग दिया जाता था और उसके सिर पर एक विशेष प्रकार का शिरस्त्राण चढ़ाया जाता था। पुरोहित के चार साथी उसके दोनों हाथ और पैर पकड़ कर उसे वेदी पर चित लेटा देते थे और पुरोहित उसका सीना काट कर दिल निकाल लेता था। जिस देवता के लिए वलि दी जाती थी उस पर वलि के खून का प्रलेप लगा दिया जाता था। फिर पुरोहित वलि का चमड़ा पहन कर आनुष्ठानिक नृत्य करता था। जिसकी वलि दी गयी वह कोई शूरवीर रहा हो तो उसका शरीर भोजन के लिए जनता को दे दिया जाता था।

वलि का एक विशेष प्रकार यह था कि वलि के नरों को, जिनमें औरतें वच्चे भी शामिल होते, हाथ पैर वाँध कर एक कुएँ में डाला जाता था। उनके साथ जवाहिरात, वर्तन और अन्य कीमती चीजें भी डाल दी जाती थीं। चिचेन इट्जा नाम के एक गहरे कुएँ पर सोने और तांवे की चीजें मिली हैं।

माया पुरोहितों के लिए काल अनन्त है पर काल-चक्रों का आवर्तन होता रहता है। काल गणना यह है कि २० दिन

के १८ महीनों में एक वर्ष पूरा होता है और इसके बाद पांच अशुभ दिन पड़ते हैं जिसके बाद नया साल शुरू होता है। यह भी विश्वास था कि ५२ वर्ष के युग के अन्त में प्रलय हो सकता था। युग के बाद अन्तिम पांच दिन लोग शहर के बाहर निकल जाते और प्रलय की प्रतिक्षा करते। इसके बाद सूरज निकलता तो लोग खुशियां मनाते, पुरोहित पूतअग्नि जलाते और उसी से आग लेकर घर-घर में चूल्हे जलाये जाते।

नगरों में थे मन्दिर, पिरामिड, नाच घर और शायद उच्च अधिकारियों के मकान। लेकिन जनता इन नगरों के बाहर आदिम जीवन ही व्यतीत करती थी। वे खेती करते थे—अधिकांश मक्की की—और जंगल जलाकर ही खेती की जमीन तैयार की जाती थी। मक्की का सत्तू ही उनका सामान्य आहार था। फूस की छत सहित लट्टों का एक कमरा ही उनका मकान था। पहनने के लिए मर्द एक चौकोन कपड़ा ओढ़कर कन्धों पर गांठ लगा लेते थे। औरतों का पहनावा एक अलखल्ला था जिसमें सिर और बाहों के लिए जगह कटी हुई होती थी।

इंका—पेरू (दक्षिण अमेरिका) का इंका साम्राज्य आदिम सभ्यता के चरम उत्कर्ष का एक और निदर्शन है। इंका राजधानी कुजको प्रायः एक स्वर्ण नगरी थी। चारों ओर सोने की भरमार। प्रसिद्ध सूर्य मन्दिर के पौधे और जानवर सोने के बने हुए थे और बिल्कुल जिन्दा जान पड़ते थे। तांबा और चाँदी गलाने की तरकीब उन्हें मालूम थी और पीतल की चीजें भी वे बना लेते थे। परन्तु उस सभ्यता को पीतल युग

की सभ्यता में शामिल नहीं किया जा सकता क्योंकि पीतल का इस्तेमाल औजार या हथियार बनाने के लिए नहीं किया जाता था। देश में सिंचाई की पर्याप्त व्यवस्था थी, खाद का प्रचुर प्रयोग होता था और बुनकर उच्च कोटि के थे।

इंका साम्राज्य की स्थापना के पहले प्रदेश में कई छोटे-छोटे राज्य थे और इंका जाति ने १३वीं सदी में इन सब राज्यों पर अपना आधिपत्य फैला दिया। इन तमाम राज्यों पर अपना आधिपत्य जमाने वाले प्रथम सम्राट पाचाकुटी इंका का राज्याभिषेक सन् १४३८ में हुआ। सन् १५३१ तक, स्पेनिश आक्रमण के परिणामस्वरूप इस साम्राज्य का पतन हुआ। परन्तु इंका सभ्यता की बुनियाद ईसा के जन्म-काल के पहले ही पड़ चुकी थी। लक्ष्य करने की बात है कि ऐंडीज पहाड़ों के पश्चिम तट की भूमि जहाँ इस सभ्यता का विस्तार हुआ प्रायः मरु प्रदेश में ही पड़ती है, परन्तु जमीन उपजाऊ थी और पानी, खाद की व्यवस्था से वहाँ काफी शस्य का उत्पादन किया जाने लगा था। ऊपर पहाड़ों पर आलू की खेती होती थी और पहाड़ में सीढ़ियाँ काट कर उन पर भी खेती की जाती थी। समतल भूमि पर मक्की की पैदावार थी और समुद्र तट के पास शकरकन्द और टमाटर के अलावा रुई भी पैदा की जाती थी। लामा और आलपाका जैसे पालतू जानवरों से महीन ऊन भी मिलता था। माल ढोने के काम में भी इन जानवरों को लगाया जाता था।

इंका साम्राज्य की विशेषता थी नहरों और सड़कों का प्रबन्ध और जनता के लिए श्रमदान अनिवार्य किया जाना।

साम्राज्य में जनसंख्या भी कम नहीं थी—कोई ६० लाख। अधिकांश को कुछ न कुछ समय राज्य को देना पड़ता था। इस प्रकार काफी उपज वच रहती थी जिससे कुशल कारीगरों की जीविका चलती थी और राजघराने के लोगों के लिए भी, विना श्रम किये ही, खाद्यान्न का प्रवन्ध हो जाता था। इसी फालतू उपज से सेना का भी पालन-पोषण होता था। वड़े-वड़े गुदामों में अनाज जमा किया जाता था और उसके वितरण का अधिकार राज्य को ही था। जरूरतमन्दों को भी इन गुदामों से अन्न दिया जाता था। इस व्यवस्था से यह भ्रम-पूर्ण निष्कर्ष भी निकाला गया कि इंका साम्राज्य में समाज-वादी व्यवस्था थी। यह मत भ्रान्त इसलिए है कि उपज की जिम्मेदारी राष्ट्र की नहीं थी। केवल जनता द्वारा उत्पन्न पैदावार पर राज्य का अधिकार था। उपज की वितरण-व्यवस्था राज्य के हाथों में थी परन्तु इसे राजकीय वाणिज्य नहीं कहा जा सकता।

प्रशासकों ने राज्य की श्रम शक्ति का संगठन किया और उसी के द्वारा विशाल इमारतें आदि भी वनाई गईं लेकिन गाँव की अर्थ व्यवस्था ही सभ्यता की वुनियाद थी। यदि इस व्यवस्था के परिणामस्वरूप प्रचुर जनसंख्या की आवश्यकताओं की पूर्ति के अलावा राज्य की जरूरत के लिए भी कुछ उपज वच न रहती तो इंका साम्राज्य कुछ आदिम जन-जातियों का एक समूह मात्र होता। साथ ही वुनियादी तौर पर इंका सभ्यता अन्य आदिम जातियों की सभ्यता से भिन्न न थी। प्रशासकीय वर्ग का जीवन उन्नत था, दूसरों

का जीवन साधारण था। इंका सभ्यता का उन्नत स्तर इस प्रशासकीय वर्ग के कारण ही सम्भव हो सका। इस वर्ग का एक विशेष पेशा उल्लेखनीय है। यह है गणकों का पेशा जिससे जनसंख्या और राजस्व का हिसाव रखा जाता था। इस गणित का साधन था कीपू—छड़ी या रस्सी जिसमें जगह जगह सुतली वंधी होती थी। विभिन्न चीजों के लिए या जिलों के लिए सुतलियाँ भिन्न भिन्न रंग की होती थीं। एक के ऊपर एक गाँठ वाँधने से नीचे से ऊपर, एक, दस, हजार आदि का वोध होता था। यह एक प्रकार से दशमलव प्रणाली का प्रचलन था। इंका उत्सव सूर्योपासक कृषि समाज के अनुरूप थे। सूर्य विशेष स्थानों में आने पर (२१ जून, २१ सितम्वर और २१ दिसम्वर) उत्सवादि होते थे। लेकिन ईतू पूजा जिस किसी समय हो सकती थी, विशेषकर, सूखा, महामारी और युद्ध के समय जव कि इंका को देवताओं की सहायता की आवश्यकता पड़ती थी। लक्ष्य करने की वात है कि वंगाल में भी ईतू पूजा की जाती है (अगहन के महीने में)। वंगाली ईतू पूजा एक प्रकार की सूर्योपासना है।
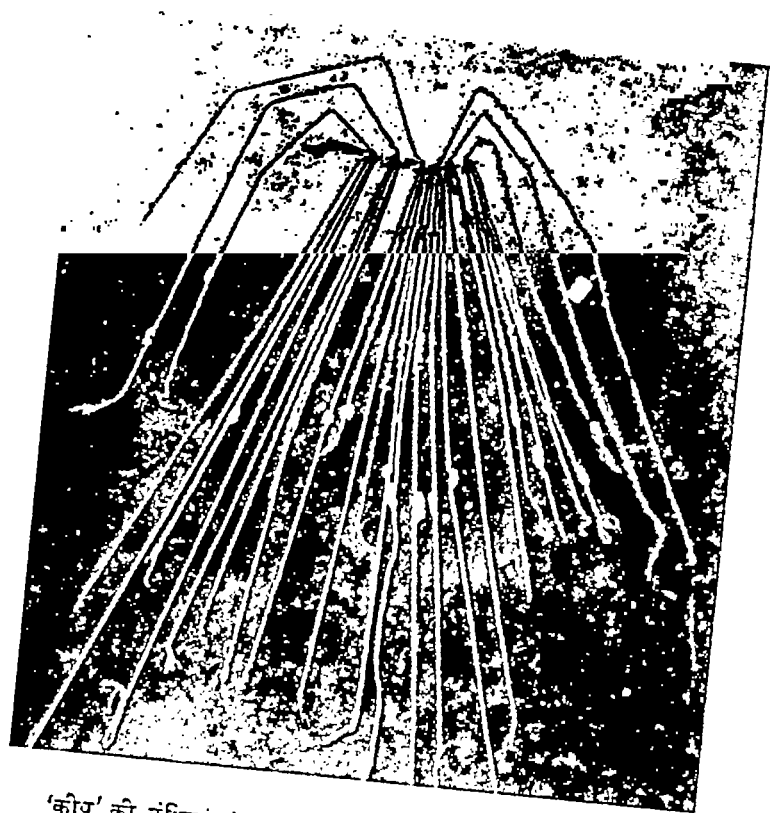
'कीपू' की ग्रंथियां इंका जाति में गणना कार्य में काम आती थीं

आदिम कला

आदिम कलाकृतियाँ हमें ईसा पूर्व २० हजार और १० हजार वर्षों के बीच की मिलती हैं। ये कृतियाँ आरिगनेशियन युग की हैं। छोटी मानव-मूर्तियाँ सख्त चीज पर बनाई गई हैं। इनकी एक विशेषता यह है कि चेहरे नहीं बनाये गये हैं। स्तन या जाँघ जैसी नारी विशिष्टता पर अधिक ध्यान दिया गया है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि ये मातृत्व या शिशु-जन्म की देवियों की प्रतिमाएँ हैं। चूने के पत्थर या हाथी दाँत की ये मूर्तियाँ फ्रान्स के दक्षिणी भाग में मिली हैं।

पशु मूर्तियों का प्रचलन बाद के मैगडेलेनियन युग का है। इनमें प्रकृति का अनुकरण बड़ी खूबी के साथ किया गया है। फ्रांस में मिट्टी का बना सिंह अपनी माँद में घुसते हुए दिखाया गया है जो जानदार मालूम पड़ता है। आरिगनेशियन युग के उत्तर काल में खुदाई और चित्रकारी का भी विकास हुआ। उनमें विभिन्न अंगों का अनुपात बिलकुल सही है और हलके या गहरे रंगों का इस्तेमाल भी कुशलता के साथ किया गया है। गुफाओं में बने हुए चित्रों से उस समय के जीवन का भी एक आभास हमें मिल जाता है। प्रस्तर युग की चित्रकला में लक्ष्य करने की बात यह है कि अत्यावश्यक तफसीलों पर विशेष नजर डाली गयी और अनावश्यक चीजों को कोई स्थान नहीं दिया गया। लड़ाई या शिकार के चित्र मानो

व्यक्तिगत अनुभव से ही खींचे गये हैं।

अफ्रीका में सहारा प्रदेश भी प्राचीन काल में कला का एक केन्द्र था। दक्षिण अफ्रीका में बुशमैन जाति की कलाकृतियाँ प्रायः सर्वत्र मिलती हैं। इससे अनुमान लगाया जाता है कि छोटे कद और पीले रंग के बुशमैन एक समय सारे दक्षिण अफ्रीका में फैले हुए थे। अधिकांश चित्र पहाड़ों पर खींचे गये हैं। एक सुन्दर चित्र में गौर से देखने पर शुतुरमुर्गों के बीच एक के पैर मनुष्य जैसे दिखाई पड़ते हैं। वह वास्तव में मनुष्य ही है और वह शिकार के लिए शुतुरमुर्ग का चमड़ा ओढ़े हुए है। उसके परों के बीच से तीर धनुष भी दिखाई दे जाता है। कुछ चित्रों में छोटे पीले रंग के बुशमैन लम्बे काले व्यक्तियों से लड़ते दिखाये गये हैं। ये काले लोग स्पष्टतः बान्टू जाति के हैं। यह भी पता लगाया गया है कि वे मिट्टी या धातुओं से रंग बनाते थे जो चर्बी से मिलाये जाते थे।

मूर्तिकला नीग्रो जाति की विशेषता है। कांगो घाटी, गोल्डकोस्ट आदि पश्चिमी अफ्रीका के प्रदेशों में लकड़ी की खुदाई से जो मूर्तियाँ बनाई गयी हैं वे वास्तव में सुन्दर हैं। सिलेण्डर की शक्ल के पेड़ के तनों से इन मूर्तियों को बनाना और सहज हो गया। हाथी दाँत की मूर्तियाँ भी बनाई गई हैं लेकिन इनमें कभी-कभी अनुपात का अभाव दिखाई देता है। इस असंगति का कारण हाथी दाँत का आकार है। गोल्ड कोस्ट में घोड़े पर सवार एक व्यक्ति की मूर्ति में सवार तो ठीक ही है लेकिन घोड़े का आकार तुलनात्मक रूप से

बहुत क्षुद्र है। यह घोड़े का व्यंग्य-चित्र भी कहा जा सकता है लेकिन शिल्पकार का वास्तविक लक्ष्य सवार को ही स्पष्ट रूप देना था। नाइजीरिया में कोई आठ सौ छोटी प्रस्तर मूर्तियाँ मिली हैं जिनमें विभिन्न कबीलों की भिन्न-भिन्न शक्लें प्राकृतिक सत्य के बहुत निकट हैं।

एशिया में चीन की कला की ख्याति तो है ही, हाल के रूसी अनुसंधान से साइबेरिया और उजबेकिस्तान में भी प्राचीन कलाकृतियों का पता चला है। लीना नदी पर शिशकिनो गाँव के पास की पहाड़ियाँ आदिम कला का अजायबघर मानी जाती हैं। लाल रंगे हुए पूरे कद के एक घोड़े का चित्र पश्चिमी यूरोप की गुफाओं के चित्रों जैसा ही है। उजबेकिस्तान के चित्र मेसोलिथिक युग के हैं और वहाँ नीआनडर्थल जाति के एक युवक की हड्डियाँ भी मिली हैं। चीनी वर्तनों की मशहूर चित्रकारी सियावंश (ईसा पूर्व २२ सौ वर्ष) के भी पहले की हैं। लेकिन यह अनुमान करना कठिन नहीं कि कला का प्रारम्भ और पहले ही हुआ होगा। भारतीय कला वस्तुओं की तारीख का पता लगाना बहुत कठिन है। फिर भी यह निश्चित है कि रायगढ़ और आदमगढ़ के पहाड़ों पर चित्रकारी प्राचीन प्रस्तर युग के उत्तरकाल की है। मोएनजोदड़ो की सभ्यता के काल में तो इस कला का और भी अधिक विकास हो चला था। पश्चिमी एशिया में सुमेर कला को आदिम कला कहना ही कठिन है।

इंडोनेशिया, पोलिनेशिया, मेलानेशिया और अमेरिका आदि प्रदेशों की कला के सम्बन्ध में कुछ कहने के पहले,

आदिम कला की एक विशेषता पर ध्यान देना आवश्यक है। विशेषता यह है कि प्रायः आदिम कला का सम्बन्ध धार्मिक अनुष्ठानों या भावनाओं से है। कला का प्रयोग, जादू के अनुष्ठानों में देवताओं को तुष्ट करने के लिए या खेतों को उपजाऊ बनाने के लिए उन्हें मजबूर करने को भी किया गया है। होपी इंडियनों के कृषि-देवता की मूर्ति में गालों पर वक्र रेखाएँ हैं। ये बादलों के प्रतिनिधि स्वरूप हैं। ऊपर दौड़ती हुई सर्पाकार रेखायें बिजली की प्रतीक स्वरूप हैं। सीधी निम्नगामी लकीरों से वर्षा दिखाई गई है।

मुखड़े तो अधिकाँश धार्मिक उद्देश्य से ही बनाये जाते थे। उत्तर अमेरिका की विक्शुला जनजाति का मुखड़ा एक विशाल ईगल पक्षी के मस्तक की अनुकृति स्वरूप है। विक्शुला-विश्वास के अनुसार इस पक्षी के परों के फटफटाने से ही आसमान गरजता है। इसलिए ईगल को गरजपक्षी भी कहा जाता है। केलामाता (बोरनिग्रो) जनजाति का देव 'बोली आतप' लोगों को बीमारी से बचाता है। इसलिए वे 'आतप' की छोटी-छोटी मूर्तियाँ पास रखते हैं। बिना हाथ पैर की जो मूर्तियाँ मिली हैं उनमें भी छन्दमय गति का आभास बहुत स्पष्ट है।

आस्ट्रेलिया में फर्श पर भी खुदाई की गई है और ये बहुत बड़े आकार के हैं। पक्षी जैसे सिर वाले एक व्यक्ति के चित्र की लम्बाई १९ फीट और चौड़ाई साढ़े चार फीट है। सुरक्षित पहाड़ी स्थलों में एमू और कंगारू के शिकार के चित्र सजीव हैं और उनमें कलाकारों की पर्यवेक्षण शक्ति का भी परिचय मिलता है। बुलरोरर और टोटेमस्तम्भ आस्ट्रेलियन आदिम

कला की अन्य विशेषताएँ हैं।

आदिम कला प्रकृति का अनुकरण मात्र नहीं है। आदिम लोग चित्र में उन चीजों को भी दिखाते हैं, जो ऊपर से भले ही न दिखाई दे लेकिन जिनके सम्बन्ध में उन्हें यह ज्ञान है कि उनका वास्तविक अस्तित्व है। इस प्रकार मछली के चित्र में मछली की हड्डियाँ भी मौजूद हैं और उनके खाद्य मांस-भाग को भी चित्र में विशेष स्थान प्राप्त है।

आदिम कला का सब से अधिक उत्कर्ष हुआ दक्षिणी फ्रांस, स्पेन और पश्चिमी ऐशिया में। मिस्र की कला तो प्राचीन है, परन्तु प्राचीन होते हुए भी मिस्री सभ्यता की गणना आदिम सभ्यता में नहीं की जाती।

o

परिशिष्ट

हिमयुग और मानव

यद्यपि १८वीं सदी के अन्त में ही यह अनुमान किया जा रहा था कि पृथ्वी पर आधुनिक जीवन आरम्भ होने के पहले दुनिया के एक बड़े हिस्से पर हजारों वर्ष तक वर्फ जमी रही, परन्तु हिमयुग के सिद्धान्त को सन् १८४० में ही स्विस भूतत्ववेत्ता लूई आगासी ने वैज्ञानिक रूप दिया। आज यूरोप के लिए अधिकांश को यह सिद्धान्त मान्य है कि आज से ६ या १० लाख वर्ष पहले यह वर्फ नारवे, इंगलैंड और उत्तरी जर्मनी के पहाड़ों पर पहले-पहल पिघलने लगी और आज से १५ या २० हजार वर्ष पहले आलपस पर्वत श्रेणी से आखिरी वार वर्फ गली। आलपस की चार घाटियों के नाम पर वर्फ जमने के चार विभिन्न कालों का नामकरण किया गया है—गुंज, मिण्डेल, रिस् और उर्म। गुंज और मिण्डेल के बीच आबोहवा गर्म और नम रही, मिण्डेल और रिस् के बीच खुश्क और ठण्डी जलवायु थी, रिस् और उर्म के बीच आबोहवा फिर गर्म और नम हो गई। उर्म के वाद भी वर्फ कभी-कभी जमी लेकिन अधिक मात्रा में नहीं। वर्फ जब पहली वार गलनी शुरू हुई उसी समय पृथ्वी पर मानव-जाति का उदय हुआ और मानव विज्ञान में उसी काल को प्लीस्टोसीन या आदि नूतन काल कहा जाता है। जब से आधुनिक मानव का उदय हुआ उसे होलोसीन

या अतिनूतन काल कहते हैं। प्लीस्टोसीन और होलोसीन का काल ही हिमयुग का काल भी है।

उत्तर अमेरिका में तीन क्षेत्र वर्फ से ढके थे और ३६ हजार वर्ष पहले वर्फ गलनी शुरू हो गयी और वर्फीला क्षेत्र संकुचित होता गया।

स्वभावतः हिमयुग, जलवायु में विशेष परिवर्तन का काल था। हिम के साथ वनस्पति कभी आगे वढ़ती थी और कभी पीछे हटती थी। समुद्र का स्तर भी ऊँचा चढ़ जाता था या नीचे गिर जाता था। समुद्र के पानी से जो वर्षा होती वह जमकर पहाड़ों पर वर्फ वन जाती, नदियों के जरिये वह पानी फिर समुद्र में जा गिरता। इस प्रकार वर्फ का परिमाण वढ़ जाता और समुद्र की सतह नीचे हो जाती। वर्फ जव पिघलने लगती तो समुद्र का पानी वढ़ जाता और सतह कोई ३ सौ फीट ऊपर चढ़ जाती। वर्फ का परिमाण वढ़ता और समुद्र की सतह नीचे गिरती तो नदियों की ढाल भी नीची हो जाती और उनकी धारा भी तेज हो जाती। फिर समुद्र की सतह ऊपर चढ़ती तो नदियों की चाल धीमी पड़ जाती, पानी में घुली मिट्टी आदि नदी तल में जमा होती रहती। इस प्रकार नदियों के अन्दर चवूतरे वन गये हैं और इन चवूतरों में जमा मिट्टी आदि से वहां मिट्टी आदि के जमने की कालगणना की जाती है। नदी की धारा के प्रथम हिस्से का चवूतरा सव से पुराना माना जाता है और आगे वढ़े चवूतरों का काल पीछे हटता जाता है। नर या पशुकंकाल और औजार आदि जिस चवूतरें में मिलते हैं उसी से औजार या कंकाल की कालगणना

की जाती है। अफ्रीका में आज जहाँ सहारा मरुभूमि है, हिमखण्ड के प्रसार के समय वहां पानी बरसता था और तापमान भी आज के मुकाबले कम था। समुद्र का स्तर नीचे गिरने के कारण एक समय था जब कि एशिया और अमेरिका के बीच जमीन का ही एक पुल बन गया था। अलास्का और साइबेरिया के बीच बेरिंग जलडमरूमध्य की गहराई १८० फीट मात्र है। परन्तु समुद्र तल एक समय ३ सौ फीट से भी अधिक नीचे गिर गया था। आज यह प्राय: निसंशय है कि कोई दस हजार वर्ष पहले मानव जाति के लोग एशिया से जमीन के रास्ते अमेरिका पहुँचे। अमेरिका में स्वतन्त्र रूप से मानव की उत्पत्ति नहीं हुई।

हिमयुग की उत्पत्ति कैसे हुई ?

भूतत्व विज्ञान का अनुमान है कि पिछले हिमयुग से पहले जो हिमयुग आया था वह बीस करोड़ वर्ष पहले की बात है जो प्राणीशास्त्र के अनुसार सरीसृप युग था। आज से दस लाख वर्ष पहले हिमपात का कारण क्या था, इस सम्बन्ध में कई सिद्धान्त हैं। एक प्रचलित सिद्धान्त यह है कि पृथ्वी का तापमान कुछ गिर गया था। अधिकांश भूतत्वविदों का विश्वास है कि आज भी तापमान कुछ नीचे गिर जाय तो पृथ्वी पर हिमयुग का पुनराविर्भाव हो जाये! एक जर्मन विद्वान ने गणना की है कि पिछले हिमयुग में गर्मियों में तापमान आज के ग्रीष्मऋतु के तापमान के मुकाबिले केवल ४ डिग्री सेन्टीग्रेड या ७ डिग्री फारेनहाइट कम था। विश्व का तापमान गिरने के तीन कारण बताये जाते हैं। पहला कारण

यह है कि हर ९२ हजार वर्ष की अवधि में पृथ्वी के परिक्रमण मार्ग में सामान्य परन्तु नियमित परिवर्तन हुआ करता है। दूसरा यह कि ४० हजार वर्ष की अवधि में पृथ्वी की धुरी के झुकाव में कुछ परिवर्तन होता है। तीसरा कारण यह है कि धुरी की गति भी २१ हजार वर्षों में कुछ अस्थिर हो जाती है, कुछ चक्कर-सी काट जाती है। पहले परिवर्तन के कारण सूर्य से पृथ्वी की दूरी घट-वढ़ जाती है। वाकी दो कारणों से सूर्य की किरणों के कोण में परिवर्तन होकर, स्थान और मौसम विशेष में गर्मी घट-वढ़ जाती है। परन्तु इनमें से किसी एक कारण से ही पूर्य की गरमी पृथ्वी पर कम नहीं पहुँचती। दो या तीन कारणों के संयोग से ही पृथ्वी पर सूर्य की गरमी कम हो जाती है।

परन्तु क्या कारण है कि पिछले १० लाख वर्षों में ही पृथ्वी का तापमान कम हो गया और इसके पहले करोड़ों वर्ष तक तापमान में कमी नहीं हुई? इस सम्वन्ध में जायनेर का सिद्धान्त यह है कि इस अवधि में समुद्र का स्तर नीचे गिरा जिससे पहाड़ों पर तापमान और नीचे गिर गया। यह तो सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि समुद्र के स्तर से हम ज्यों-ज्यों ऊपर उठते हैं तापमान त्यों-त्यों गिरता जाता है। समुद्र स्तर नीचा हो तो हिम रेखा भी नीचे आ जाती है और पहाड़ों पर अधिक वर्फ जमा होने लगती है। ग्रीष्म का तापमान कम होने के कारण यह सारी वर्फ पिघल नहीं पाई और वर्फीले क्षेत्र का और विस्तार होता गया।